SOME ASPECTS OF MATHURA AND KAUSAMBI BRAHMI INSCRIPTIONS FROM Ist CENTURY B. C. TO CIRCA 300 A.D.

(IN HINDI)

Thesis Submitted for the Degree of
Doctor of Philosophy
of
University of Allahabad

Supervisor
Prof. S. N. ROY

By
ANAND SHANKER SINGH

DEPARTMENT OF ANCIENT HISTORY
CULTURE AND ARCHAEOLOGY
UNIVERSITY OF ALLAHABAD
1990

विषय-सूची

प्राक्कथन

इसमें सन्देह नहीं कि प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर लगभग 300 ईस्वी का अन्तर्वर्त्तीकाल उत्तर भारत के इतिहास और संस्कृति के निर्मापन एवं नियमन का एक महत्त्वपूर्ण स्तर है, जब कि समन्वित क्षेत्र शक-कुषाण जैसी सुविदित एवं अन्य अनेक अल्पविदित अथवा अल्प प्रसिद्ध विदेशी जाति के संक्रमण एवं आक्रमण का विषय बन रहा था। प्रस्तुत स्थिति की संज्ञापना यदि एक ओर तत्कालीन साहित्यिक रचनाओं से होती है, तो दूसरी ओर सामयिक अभिलेखों के द्वारा भी होती है। इसके अतिरिक्त अभिलेखेतर पुरातात्त्विक साक्ष्य भी उक्त आशय की सूचना प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत करते हैं। गंगा-घाटी के सुविस्तृत क्षेत्र, विशेषतया कौशाम्बी एवं मथुरा ने इस सांस्कृतिक उद्वेलन का अपेक्षित अनुभव किया था; तथा इन दोनों ही क्षेत्रों के समुत्खनन एवं सर्वेक्षण से जितने पुरातात्त्विक उपकरण प्राप्त हुये हैं, उनमें ब्राह्मी लिपि में उट्टंकित अभिलेख ऐतिहासिक अनुशीलन के लिये अतीव उपयोगी सिद्ध हुये हैं। वस्तु-निष्ठ अथवा विषय-परक सामग्री के आकलन के लिये प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में इन अभिलेखों की इदृक्ता एवं इयत्ता पर विशेष ध्यान दिया गया है। यद्यपि प्राच्य-विद्या के विशेषज्ञों ने अपनी शोध-रचनाओं में इन्हें अनेकधा एवं अनेकशः समीक्षा का विषय बनाया है, तथा इस प्रकार इन्हें पुनः समीक्षित करने के लिये अधिक अवकाश नहीं रहता है, तथापि शोध-कार्य की अनवद्यता में गतिशीलता तभी आती है जब कि ज्ञात तथ्यों का मूल्यांकन कर अल्पसमीक्षित साक्ष्यों को पुनः समीक्षित कर अज्ञात तथ्यों का प्रकाशन किया जाये। इसके अतिरिक्त यह भी विवाद-रहित

है कि मौलिक साक्ष्य बहुधा अनेकार्थ-द्योतक होते हैं, अथवा उनमें न्यूनांशत: प्राय: अस्पष्टता रहती है; अतएव ऐतिहासिक तथ्यों के विभिन्न पक्षों के अनुशीलन के लिये उन्हें पुन: समीक्षित किया जाना आवश्यक हो जाता है। बहुधा मौलिक स्रोतों का यथावत मूल्यांकन न कर उनके आधुनिक भाषाओं के रूपान्तरों के आधार पर उनका उपयोग किया जाता है, अतएव वास्तविक सांस्कृतिक अभिव्यंजना के परीक्षणार्थ भी उनकी पुन: समीक्षा अपेक्षित बन बैठती है।

अभिलेखांकित मूल शब्दों का अभिज्ञान भी अनेक प्रसंगों में संशयशील बना रहता है। ऐसी संशयशील स्थितियों में इनकी सही पहचान करने के साथ-साथ इनके आधार पर निकाले गये पुराने निष्कर्षों का मूल्यांकन भी वांछनीय बन जाता है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की रूप-रेखा तैयार करने में उक्त अवधारणाओं को विशेषतया ध्यान में रखा गया है।

शोध-प्रबन्ध को पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय में कौशाम्बी एवं मथुरा का पुरैतिहासिक एवं पुराभिलेखिक परिचय प्रस्तुत किया गया है। अभिलेखीय साक्ष्यों के अतिरिक्त इस अध्याय में अभिलेखेतर साक्ष्यों की भी समीक्षा की गई है, जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रथम शताब्दी ईसापूर्व से लेकर लगभग तीन सौ ईस्वी तक गंगा के मैदान में कौशाम्बी एवं मथुरा सुप्रसिद्ध नगरों के रूप में प्रतिष्ठित थे। आलोचित कालावधि के अभिलेखों में सामाजिक तत्त्व नामक द्वितीय अध्याय में

तत्कालीन सामाजिक गठन के विभिन्न पक्षों के अतिरिक्त अभिलेखांकित उन स्थलों की विशेष समीक्षा की गई है, जो ब्राह्म एवं ब्राह्मेतर दोनों परम्पराओं के सह-अस्तित्व को प्रकाशित करते हैं। तीसरे अध्याय में आलोचित कालावधि के अभिलेखों द्वारा अभिद्योतित आर्थिक स्थिति का मूल्यांकन किया गया है। अन्य तथ्यों के अतिरिक्त प्रस्तुत अध्याय में उन अभिलेखांकनों को विशेषतया समीक्षित किया गया है, जो भारत और मध्य एशिया के परस्पर व्यापारिक सम्बन्धों को सुव्यक्त कर देते हैं। चौथे अध्याय में इन अभिलेखों से अभिव्यज्यमान धार्मिक तत्त्वों को समीक्षित किया गया है। सम्राट्-पूजा, राजेतर उच्चस्तरीय व्यक्तियों का दैवीकरण जैसी नवीन धार्मिक मान्यताओं को आलोचित अध्याय में सविशेष प्रकाशित किया गया है। पाँचवें एवं अन्तिम अध्याय में आलोचित कालावधि के अभिलेखों की लिपि-विषयक अनुशीलन किया गया है। इस अध्याय में ब्राह्मी की शिल्प-विधि का सामान्य स्वरूप, लिपि-गत समरूपता अथवा क्षेत्रीय विषमता, शक-यूनानी लेखन-विधा का प्रभाव जैसे पक्षों को नवीन दृष्टिकोण से विमर्शित किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को तैयार करने में मैंने यह अनुभव किया कि यह कार्य एक ऐसे बौद्धिक व्यायाम को द्योतित करता है, जिसके लिये आचार्य-सुलभ अनुशासन सर्वथा अपेक्षित बना रहता है। संयोगत: एवं सुयोगत: मुझे आचार्य अनुशासन मिलता रहा है, जिसके परिणाम में यह शोध-प्रबन्ध

तैयार हो सका है । मैं अपने सभी आचार्यों का आभारी हूँ, विशेषतया प्रो० एस०एन० राय का जिन्होंने ब्राह्मी अभिलेखों के अध्ययनार्थ मुझे उत्साहित किया, तथा शोध-प्रबन्ध के प्रारम्भ एवं समापन के सभी बिन्दुओं पर मुझे प्रेरित किया । इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के प्रो० जे०एस०नेगी, प्रो० जी०एन०एस० यादव, प्रो० यू०एन० राय, डॉ० ज्ञानेन्द्र कुमार राय, डॉ० श्रीमती अनामिका राय, डॉ० हर्षकुमार ने इस शोध-प्रबन्ध के समापनार्थ न केवल उत्साहित किया, अपितु अनेक प्रसंगों में अपनी सहायता भी प्रदान किया । एतदर्थ मैं इन विद्वानों का आभारी हूँ । मैं ईश्वरशरण डिग्री कालेज, इलाहाबाद के प्राचार्य डॉ० जे०एस० एल० श्रीवास्तव एवं डॉ० सुरेशचन्द्र राय के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ, जिनका प्रोत्साहन मुझे बार-बार मिलता रहा है । जी०आर० शर्मा मेमोरियल म्युज़ियम, प्राचीन इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, राजकीय संग्रहालय इलाहाबाद तथा राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली के अधिकारियों एवं अधिकृत विद्वानों का आभारी हूँ, जिन्होंने इन संग्रहालयों में सुरक्षित अभिलेखों के अनुशीलन के हेतु अनुमति प्रदान किया । अपने निवेदन को समाप्त करने के पूर्व यह स्पष्ट करना चाहूँगा कि परिमार्जित हिन्दी एवं मूल संस्कृत शब्दों के टंकणार्थ अभी तक आदर्श मशीनें नहीं बन सकी हैं, अतएव शोध-प्रबन्ध में टंकित शब्द प्रायः सदोष बन बैठे हैं । इसके अतिरिक्त अभी तक प्राच्य-विद्या की पत्रिकाओं के नाम-द्योतनार्थ

संकेत शब्दों का आदर्श रूप नहीं बन सका है, अतएव शोध-प्रबन्ध में इन पत्रिकाओं के पूरे नामों को व्यवहार में लाया गया है । अन्त में मैं उन सभी विद्वानों के प्रति अपना अनल्प आभार प्रकट करता हूँ, जिनके विषय से सम्बन्धित निष्कर्षों को समीक्षा का विषय बनाने के लिये मुझे सुयोग प्राप्त हुआ है, तथा जिनकी रचनाओं के अनुशीलन द्वारा मुझे समस्तरीय विषय को परिशोषित करने के लिये प्रेरणा प्राप्त हुई है ।

-o-

कौशाम्बी एवं मथुरा का पुरैतिहासिक
एवं पुराभिलेखिक परिचय

ब्राह्मण एवं ब्राह्मणेतर साक्ष्यों की समीक्षा से यह सुव्यक्त हो जाता है कि वैदिक युग के उत्तरवर्ती स्तरों पर गंगा की घाटी में कौशाम्बी की गणना भारत के महत्त्वपूर्ण नगरों में की जाती थी । प्राच्य विद्या के पूर्वसूरियों की गवेषणाओं से यह भी स्पष्ट हो चुका है कि यह नगर यदि एक ओर शतपथ ब्राह्मण एवं गोपथ ब्राह्मण जैसे उत्तर वैदिक ग्रन्थों में प्रसंगित हुआ है, तो दूसरी ओर इसके सन्दर्भके स्थल पालि साहित्य में प्राप्त होते हैं । उक्त दोनों वैदिक ग्रन्थ कौशाम्बेय शब्द सन्दर्भित करते हैं, जो निश्चय के साथ कौशाम्बी नगरी के किसी प्रतिष्ठित नागरिक का संज्ञापक माना जा सकता है । इसके अतिरिक्त, कौशाम्बी का प्रसंग रामायण, महाभारत, पुराण, एवं बौद्ध ग्रन्थ महावंस की वंसत्थप्पकासिनी नामक टीका में प्राप्त होता है[1]। द्वितीय शताब्दी ईसापूर्व में इस नगर की लोकप्रियता बढ़ गई थी, तथा इसे वाराणसी का समस्तरीय माना जाता था । इस आशय का संकेतक साक्ष्य पतंजलि के महाभाष्य में प्राप्त होता है । पाणिनि के सम्बन्धित सूत्र की व्याख्या करते हुये, पतंजलि ने निष्कौशाम्बी: (कौशाम्बी के बाहर जाने वाला व्यक्ति) तथा निर्वाराणसी: (वाराणसी के बाहर जाने वाला व्यक्ति) शब्दों का प्रयोग किया है[2]। जैन ग्रन्थों में भी कौशाम्बी की समृद्धि के द्योतक स्थल प्राप्त होते है[3]। नगर के रूप में प्रतिष्ठित कौशाम्बी का सन्दर्भण चीनी यात्री ह्वेनसांग के विवरण में प्राप्त है[4]। कौशाम्बी के नामकरण के सन्दर्भ में विभिन्न परम्पराओं को सन्दर्भित किया जाता है, जिनमें दो ब्राह्मणेतर परम्पराएँ उल्लेखनीय हैं ।

परमत्थजोतिका में सुरक्षित बौद्ध परम्परा के अनुसार, इस नगर का नाम कौशाम्बी इस लिये पड़ा क्योंकि प्रारम्भ में यहाँ कोशम्ब नामक ऋषि रहते थे। जैन परम्परा की सूचना इससे कुछ भिन्न है। इसके अनुसार, यहाँ शीतल छाया प्रदान करने वाले कोशम्ब नामक वृक्षों की प्रचुरता थी, इसी कारण इस नगर का नाम कौशाम्बी पड़ा।[5]

प्रस्तुत नगर के प्राचीन अवशेष आधुनिक इलाहाबाद जनपद से लगभग 32 मील दक्षिण-पश्चिम दिशा में प्राप्त हुये हैं। ये अवशेष उत्तुंग टीलों के रूप में उन गाँवों से घिरे हैं, जिन्हें सम्प्रति कोसम खिराज, गढ़वा, कोसम- इनाम तथा ओंवाँ कुआँ की संज्ञा दी जाती है। ऐसी स्थापना की गई है कि कोसम एवं गढ़वा शब्द इस तथ्य के अभिद्योतक हैं कि कौशाम्बी नगर एक दुर्ग के रूप में प्रतिष्ठित था।" पुरातत्त्व-प्रवीण गवेषकों एवं उत्खनन-कुशल पुराविदों की समीक्षा के अनुसार वस्तुत: द्वितीय सहस्राब्दी ईसा पूर्व के उत्तरार्द्ध में नगर-जीवन की उत्क्रान्ति के परिणाम में कौशाम्बी की प्रतिष्ठापना उन लोगों के क्रिया-कलाप की प्रेरणा में हुई जो हड़प्पा-संस्कृति के अनुयायियों के सन्निकर्ष में थे, तथा इन्हीं लोगों से पुर-मापन एवं दुर्ग-विधान की धारणा को अपनाया तथा इसके साथ ही वास्तु-कला के अनेक उद्धृत तत्वों को क्रियान्वित भी किया था। इन्होंने ही मध्य गंगा की घाटी में नागरीय उत्क्रान्ति को केन्द्रित किया, तथा इनका समीकरण इण्डो-आर्यन जाति की उस शाखा से किया जा सकता है, जिन्होंने इस भूक्षेत्र में ताम्र-युग का सूत्रपात किया। इसकी कालावधि उन मृद्भाण्डों

की पूर्ववर्त्तिनी मानी जा सकती है जिन्हें नार्दर्न ब्लैक पालिश वेयर एवं पेन्टेड ग्रे वेयर की संज्ञा दी जाती है।[7]

उपलब्ध अवशेषों की वैदुष्यपूर्ण समीक्षा करने के उपरान्त आधुनिक कोसम एवं प्राचीन कौशाम्बी का प्रथम अभिज्ञान कनिंघम ने 1861 में किया था। इसके उपरान्त 1937 में आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया के एन०जी० मजुमदार को कौशाम्बी-उत्खनन का दायित्व सौंपा गया। इन्होंने कौशाम्बी-उत्खनन के महत्त्व को उद्घाटित अवश्य किया, किन्तु 1938 में इनके असामयिक निधन के कारण उत्खनन का कार्य काफी दिनों तक रुका रहा। लगभग ग्यारह वर्षों के उपरान्त कौशाम्बी-उत्खनन का भार इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने सम्हाला, तथा इसके कई-एक महत्त्वपूर्ण हिस्सों को उत्खनित कर इस नगर के अतीत कालीन गौरव के विभिन्न पक्षों को प्रकाशित करने में सफलता प्राप्त किया।

(1) वह हिस्सा जिसे अशोकन पिलर एरिया की संज्ञा दी गई है। यहाँ प्राचीन राजमार्गों के अस्तित्व के संकेतक साक्ष्य मिले हैं। इसके साथ-साथ यहीं सामान्य नागरिकों के आवासों की स्थिति को अनुमानित किया गया है। यह हिस्सा प्राचीन टीले के ठीक बीच में स्थित है, जिसके चतुर्दिक सुरक्षा-प्राचीर प्रकाश में लाये गये हैं।

(2) वह हिस्सा, जहाँ घोषिताराम विहार स्थित था। पुरातन पालि साहित्य में प्रस्तुत विहार अनेकशः प्रसंगित हुआ है। इसे कौशाम्बी

के एक समृद्ध सेठ घोषित ने निर्मित कराया था । बौद्ध परम्परा के अनुसार घोषित वत्सराज उदयन का कोषाध्यक्ष था । ऐसी सूचना मिलती है कि जिस समय भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में ठहरे हुये थे, उन्हें घोषित एवं दो अन्य कुक्कुट एवं पावरीय नामक सेठों ने कौशाम्बी आने के लिये आमन्त्रित किया था । इन तीनों सेठों ने भगवान् बुद्ध के सम्मान में अलग-अलग क्रमशः घोषिताराम, कुक्कुटाराम एवं पावरियाराम नामक विहारों का निर्माण सम्पन्न कराया था । इन तीनों में अभी तक उत्खनन-शोधों के प्रयास के परिणाम में केवल घोषिताराम विहार प्रकाश में आ सका है । पालि साहित्य के अनुसार इस विहार में भगवान् बुद्ध कई बार आये थे । त्रिपिटक में निबन्धित सूचना के अनुसार इस विहार में भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को कतिपय महत्त्वपूर्ण सुत्त एवं जातकों का उपदेश दिया था । इसी विहार में संघ की व्यवस्था को कुप्रभावित करने वाले भेद के प्रथम संकेतक लक्षण प्रतिभासित हुये । महावग्ग के चीवर खन्दक के अनुसार घोषिताराम में भिक्षुओं के कलह को देखकर भगवान् बुद्ध इतने दुखी हुये कि उन्हें कौशाम्बी को छोड़कर श्रावस्ती जाना पड़ा था ।

चुल्लवग्ग के खन्दक 12 से सूचना मिलती है कि भिक्षु यसककन्दपुत्त, वैशाली के भिक्षुओं से कलह करने के उपरान्त कौशाम्बी आये और घोषिताराम विहार में उन्होंने पावा तथा दक्षिण के सभी भिक्षुओं की बैठक आयोजित किया था । इसी बैठक में भगवान् बुद्ध देवदत्त के षडयन्त्र से अवगत हुये थे ।

आनन्द तथा भगवान बुद्धकेअन्य विशिष्ट अन्तेवासियों ने इसी विहार में अपना आवास बनाया था । इनमें कुछ-एक अन्तेवासी भिक्षु भगवान् बुद्ध के परि-निब्बान के उपरान्त भी इसी विहार में रुक गये थे । महावंस की सूचना के अनुसार इसी विहार से तीन हजार की संख्या में भिक्षुओं का एक शिष्ट मण्डल उत्थम्मरक्खित के नेतृत्वमेंसिंहल द्वीप की ओर प्रयाण किया था, तथा उनकी उपस्थिति अनुराधपुर के महाथूप की स्थापना हुई थी । चीनी बौद्ध यात्री फाह्यान एवं ह्वेनत्सांग ने भी क्रमशः चतुर्थ एवं सातवीं शताब्दी में इस विहार का दर्शन किया था । फाह्यान के काल में प्रस्तुत विहार पतनोन्मुख अवस्था में था, जब कि इसमें कुछ-एक हीनयान सम्प्रदाय के बौद्ध भिक्षु शेष रह गये थे । सातवीं शताब्दी के बौद्ध यात्री को यह विहार केवल ध्वंसावशेष के रूप में उपलब्ध हुआ था ।

(3) उत्खनन-शोधों के परिणाम में कौशाम्बी के अवशेषों के पूर्वी द्वार पर बृहदाकार, आयताकार तथा वर्गाकार इष्टिकाओं से निर्मित प्राचीर -परिवेष्टन के सुस्पष्ट अवशेष उपलब्ध हुये हैं, जो इस सम्भावना के संज्ञापक हैं कि यह नगर दुर्ग के रूप में प्रतिष्ठित था । प्राचीर-परिवेष्टन में स्थान-स्थान पर प्रहरी-कक्ष के अवशेष भी मिले हैं, जिनसे इस नगर का दुर्ग-विधान सुनिश्चित किया जा सकता है । पुरातात्त्विक समीक्षा के अनुसार , इस दुर्ग-विन्यास में हड़प्पा-विशिष्ट शैली का आभास दिखाई देता है । प्राचीर-परिवेष्टन के ठीक पूर्व एक यज्ञ-वेदी के अवशेष मिले हैं, जिसका समीकरण श्रौत-सूत्र साहित्य में वर्णित श्येनचिति से किया गया है [8]

इसमें सन्देह नहीं कि इन उत्खनन-शोधों के परिणाम में नगर-जीवन उद्भव एवं विकास, तथा भारतीय कला के बहुरूप पक्षों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है । इसके अतिरिक्त इन अवशेषों की समीक्षा से कौशाम्बी के पुराभिलेखिक एवं मौद्रिक पक्षों के विविध आयाम उद्घाटित हुये हैं ।

§4§ नगर के दक्षिण-पूर्वी भाग में एक प्राचीन राजप्रासाद के अवशेष उपलब्ध हुये हैं । उत्खनन-शोधों से इसके निर्माण के द्योतक चार स्तर अभि-द्योतित हुये हैं । प्रथम स्तर पर निर्मित इसकी दीवालें बहुत ही साधारण हैं, यद्यपि वे पाषाणनिर्मित हैं । द्वितीय स्तर की दीवालों को सज्जित करने का प्रयास किया गया है । द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के आसपास, इस राजप्रासाद के नष्ट होने के प्रमाण प्राप्त होते हैं । तृतीय स्तर पर इसे पुनर्निर्मित करने का प्रयास किया गया, जब पाषाण के अतिरिक्त इसकी दीवालों में ईंटों की भी चुनाई की गई थी । चतुर्थ स्तर पर इस राज-प्रासाद की वास्तु-कला में उस पद्धति को अपनाया गया, जिसे पुरातत्व-शास्त्रियों ने HYBRID ARCHITECTURE की संज्ञा प्रदान किया है ।

कौशाम्बी के अतीत को उद्घाटित करने वाले अद्यतन जितने पुराभिलेखिक साक्ष्य उपलब्ध हुये है, उनमें सर्वप्रथम उस स्तम्भ-विशेष का उल्लेख किया जा सकता है; जिसे नामकरण की सुविधा की दृष्टि से "अशोकन पिलर" की संज्ञा प्रदान की जाती है । यह स्तम्भ उस अशोक-स्तम्भ से भिन्न है, जो सम्प्रति इलाहाबाद के किले में सुरक्षित है । आलोचित स्तम्भ कौशाम्बी में

ही स्थित है । आपाततः यह स्तम्भ अभिलेख-रहित है, किन्तु अभिव्यक्ततः इसके ऊपरी भाग में शंख-लिपि में निबद्ध अभिलेख प्राप्त होता है, जिसके अक्षरों को अभी तक सुपाठ्य नहीं बनाया जा सका है । वास्तविकता यह है कि इसी शंख-लिपि का रूपान्तर भी स्तम्भ पर उट्टंकित है । रूपान्तरित अभिलेख कीलशीर्ष (अथवा कुटिल) लिपि में अंकित है, जिसके सुपाठ्य अक्षर हैं, "शंखदेवस्य कृतिरियं", अर्थात् किसी शंखदेव नामधारी व्यक्ति ने इसे अभिलिखित किया था । विचारणीय है कि स्तम्भ पर अशोक का कोई अभिलेख नहीं है, तथा सातवीं शताब्दी ईस्वी की ब्राह्मी में यह अभिलिखित है । ऐसी स्थिति में इस स्तम्भ को सहसा "अशोकन पिलर" की संज्ञा प्रदान करने में कठिनाई प्रतीत होती है । इलाहाबाद के किले में सुरक्षित अभिलेख सम्राट अशोक से ही सम्बन्धित है, क्योंकि इसमें कौशाम्बी में नियुक्त धर्ममहामात्रों को सम्बन्धित अशोक का आदेश प्रसंगित हुआ है । अतएव यह एक सहज एवं स्वाभाविक पृच्छा प्रस्तावित की गई है कि मूलतः यह स्तम्भ कौशाम्बी में था अथवा नहीं । एक सम्भावना रखी जाती है कि इलाहाबाद किले का निर्माण करते समय इसे अकबर ने कौशाम्बी से स्थानान्तरित कराया था । मध्ययुग में मुसलमान नरेशों में फिरोजशाह उल्लेखनीय है, जिसने क्रमशः अम्बला ज़िले में स्थित टोपरा नामक स्थान से -- तथा उत्तर प्रदेश के मेरठ नगर से -- अशोक के दो अभिलिखित स्तम्भों को दिल्ली में स्थानान्तरित कराया था । उक्त आशय के साक्ष्य मिल चुके हैं । किन्तु अकबर द्वारा आलोचित स्तम्भ के स्थानान्तरित किये जाने का कोई प्रमाण नहीं मिलता है । अतएव इस सम्भावना को सहसा स्वीकार करने में कठिनाई प्रतीत होती है । चीनी यात्री फाह्यान एवं ह्वेनसांग ने भी इस स्तम्भ के कौशाम्बी में

प्रतिष्ठापित होने का कोई संकेत नहीं दिया है । दूसरी ओर इस अभिलेख में प्रयुक्त लिपि के आधार पर ऐसा निष्कर्ष निकल सकता है कि कम-से-कम गुप्त काल में यह अभिलेख कौशाम्बी में नहीं था । स्तम्भ पर अंकित समुद्रगुप्त का अभिलेख विशेषतया विचारणीय है । यहाँ विद्वानों का ध्यान अक्षर " म " की आकृति पर आकर्षित किया जा सकता है । अभी तक उत्खनन एवं सर्वेक्षण शोधों से लगभग 300 ईस्वी के जितने अभिलेख अभी तक कौशाम्बी से प्राप्त हुये हैं, उन सभी अभिलेखों में "न" की आकृति इस प्रकार है ꟾ । यही आकृति गुप्तकालीन उत्तरी ब्राह्मी की पश्चिमी शाखा में सुप्रचलित हुई थी । इसके विपरीत पूर्वी शाखा में प्रचलित होने वाली "न" की आकृति इस प्रकार है ꟾ। स्मरणीय है कि यही आकृति समुद्रगुप्त के इलाहाबाद के स्तम्भ-अभिलेख में प्राप्त होती है । ऐसी स्थिति में आलोचित स्तम्भ के मूलत: कौशाम्बी में स्थित होने की सम्भावना संशयशील बन बैठती है । यद्यपि इस स्तम्भ के कौशाम्बी में स्थित होने की सम्भावना सन्दिग्ध है, तथापि इसके वर्णन से यह सिद्ध हो जाता है कि अशोक के काल में यह नगर मौर्यों के अधीन होने के अतिरिक्त बौद्ध धर्म का एक प्रतिष्ठित केन्द्र माना जाता था । मौर्यों के उपरान्त यह नगर शुंगशासकों के अधीन था अथवा नहीं, इस प्रश्न के समाधानार्थ सही उत्तर कौशाम्बी के अवशेषों में ढूँढा नहीं जा सकता है । किन्तु भारतीय कला के गवेषकों ने जिसे शुंग-कला की संज्ञा प्रदान किया है, उसके प्रभाव-निर्वाह के साक्ष्य इन महत्व-पूर्ण अवशेषों में अवश्य मिल जाते हैं । यहाँ तक कि तथाकथित शुंग-अक्षरों की

आकृतियाँ भी विशेषतया घोषितारा़म विहार से उपलब्ध कतिपय अभिलेखों में ढूँढी जा सकती हैं । सम्भवत: यह माना जा सकता है कि अयोध्या की ही भाँति कौशाम्बी भी शुंग साम्राज्य में सम्मिलित था । आभिलेखिक एवं मौद्रिक साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि लगभग द्वितीय शताब्दी एवं प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के अन्तर्वर्त्ती अवधि में कौशाम्बी में मित्र राजवंश की सत्ता विद्यमान थी । सम्भवत: अलटेकर महोदय का यह अनुमान निरापद है कि मित्र नामधारी दो राजवंशों का आविर्भाव हुआ था, जिनकी सत्ता के अन्तर्गत प्रतिष्ठित था । प्रस्तुत राजवंश से सम्बन्धित प्रचुर संख्या में कौशाम्बी से मुद्राएँ उपलब्ध हुई हैं । किन्तु अभी तक इस वंश के शासकों में केवल राजमित्र का अभिलेख प्राप्त हुआ है, जो सम्प्रति इलाहाबाद विश्व-विद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग के संग्रहालय में सुरक्षित है । अभिलेख की भाषा (प्राकृत-संस्कृत) एवं लिपि के आधार पर इसे प्रथम शताब्दी ईसापूर्व के लगभग ~~प्रथम शताब्दी ईसापूर्व में~~ रखा जा सकता है; जब कि अभिलेखीय प्राकृत भाषा पर संस्कृत का प्रभाव पड़ने लगा था, तथा अक्षरों की लिप-विधि में लंबवत रेखाओं के शिरो भाग का समानीकरण, सेरिफ का निरन्तर प्रयोग इत्यादि सभी प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं । ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकालने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है कि इस अभिलेख में राजमित्र उस राजमित्र से भिन्न हैं, जिसकी सूचना प्रथम शताब्दी ईस्वी की मुद्राओं से मिलती है । प्रस्तुत विवेचन का दूसरा विचारणीय पक्ष यह है कि कौशाम्बी की कला पर केवल शकों की सभ्यता का प्रभाव पड़ा था,

अथवा किसी स्तर पर यह नगर शकों की सत्ता के अन्तर्भूत भी था । पहले प्रश्न का उत्तर कौशाम्बी के अवशेषों से मिल चुका है । प्रस्तुत प्रसंग में केवल इसके कुछ-एक उदाहरण दिये जा सकते हैं । पुरातत्व-शोधों में कौशाम्बी के मृण्मूर्त्तियों को विचार एवं विमर्श का विषय बनाया गया है । स्तरीकरण की दृष्टि से इन मृण्मयी मूर्त्तियों में अधिकांश को प्रथम एवं द्वितीय शताब्दी ईस्वी के साथ सम्बन्धित किया जाता है । इनकी मुखाकृतियों की शिल्प-विधि से शक-पह्लवों का आभास मिलता है । इन लचीले उपकरणों को कौशाम्बी में आयात किया गया हो, यह अकल्पनीय है । वस्तुतः इन्हें कौशाम्बी में ही निर्मित किया गया होगा, इसके प्रमाणक साक्ष्य मिल सकते हैं[9] । जहाँ तक कौशाम्बी के शकों की सत्ता के अन्तर्भूत होने का प्रश्न है, इस आशय के साक्ष्य नहीं मिले हैं । जब कि मथुरा से शक-क्षत्रप शासक राजुल एवं शोण्डास को सन्दर्भित करने वाले ब्राह्मी एवं खरो०ठी के अभिलेख मिल चुके हैं,[10] कौशाम्बी से एतत्समस्तरीय अभिलेख अभी तक नहीं मिल सके हैं । यह स्मरणीय है कि कौशाम्बी के घोषिताराम बौद्ध आयागपट्ट अभिलेख की लिपि उस अभिलेख की नितान्त समस्तरीय है, जो मथुरा के शोडास कालीन जैन अभिलेख में प्राप्त होती है । किन्तु इसमें शक-क्षत्रप नरेश सन्दर्भित नहीं हुआ है । अतएव शकों द्वारा निर्मापित ब्राह्मी की शिल्प-विधि का प्रभाव, कौशाम्बी के तत्कालीन ब्राह्मी अभिलेखों की शिल्प विधि पर तो माना जा सकता है । अर्थात् कौशाम्बी में शकों का संक्रमण मानने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है, किन्तु शकों की प्रभुता की स्थापना नहीं सिद्ध हो पाती है । कुषाणकालीन स्तर पर स्थिति काफी बदली हुई

दिखाई देती है । यह प्राय: सिद्ध हो जाता है, विशेषतया आभिलेखिक एवं मौद्रिक साक्ष्यों से, कि कौशाम्बी नगर कुषाणों की सत्ता के अन्तर्भूत हो चुका था । घोषिताराम विहार से भिक्षुणी बुद्धमित्रा के दो ऐसे अभिलेख प्राप्त हो चुके हैं जो स्पष्टतया कनिष्क के वर्ष 2 एवं वर्ष 3(?) को सन्दर्भित करते हैं । इसी प्रकार कौशाम्बी के ही समीप गढवा नामक स्थान से कुषाण नरेश वासिष्क को सन्दर्भित करने वाला एक खण्डित अभिलेख प्राप्त हो चुका है[11]। इसके अतिरिक्त घोषिताराम विहार से, भिक्षुणी बुद्धमित्रा का ही एक महत्वपूर्ण अभिलेख मिला है, जिसमें वर्ष 6 सन्दर्भित है, तथा जिसके खण्डित भाग में कनिष्क के सन्दर्भण की सम्भावना प्रस्तावित की गई है।[12] कौशाम्बी के कुषाण सत्ता में अन्तर्भूत होने का सबसे महत्वपूर्ण साक्ष्य वह राजमुद्रा है जिस पर निम्नोक्त ब्राह्मी का अभिलेख प्राप्त होता है "महाराजस्य राजातिराजस्य देवपुत्रस्य कनिष्कस्य प्रयोगे"। इस अभिलेख से यह सुव्यक्त हो जाता है कि कौशाम्बी में कनिष्क की राजमुद्रा को व्यवहार में लाया जाता था[13]। ऐसी स्थापना की गई है कि कुषाणकालीन जितनी अभिलेखांकित मुहरें कौशाम्बी से उपलब्ध हुईं, उनके अधिकांश चिन्ह तत्कालीन मुद्राओं पर भी प्राप्त हुये हैं[14]। इससे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं; एक तो यह कि इस कालावधि में कौशाम्बी में कोई टकसाल प्रतिष्ठापित था, तथा दूसरे मुद्रा एवं मुहर का निर्मापयिता शिल्पी एक ही था । कौशाम्बी के घोषिताराम विहार से उत्खनित कुषाण नरेशों की मुद्राओं के संग्रह भी इस नगर के कुषाणों की सत्ता में अन्तर्निहित होने की सम्भावना को साकार

बनाते हैं । ये मुद्राएँ कुषाणों के अतिरिक्त अन्य मुद्राओं के साथ सम्मिश्रित रूप में प्राप्त हुई हैं । प्रथम संग्रह में 24 मुद्राएँ सम्मिलित हैं, जिनमें 5 का निर्मातृ-सम्बन्ध निम्नोक्त कुषाण-शासकों से सम्बन्धित है: (1) कनिष्क-1, (2) हुविष्क-3, (3) वासुदेव-1 । दूसरे संग्रह में 136 मुद्राएँ सम्मिलित हैं, जिनमें केवल एक पतली ताम्र-मुद्रा, जिस पर कुषाणकालीन ब्राह्मी का "म" टंकित है, कुषाण शासकों के साथ सम्बन्धित की जा सकती है । (3) तृतीय संग्रह- प्रस्तुत संग्रह में 171 मुद्राएँ सम्मिलित हैं, जिनमें 4 का निर्मातृ-सम्बन्ध कुषाणों से माना जा सकता है, तथा शेष मघ शासकों की प्रतीत होती हैं । कनिष्क के साथ हुविष्क एवं वासुदेव की मुद्राओं का मिलना ऐसी सम्भावना का संज्ञापक है कि कौशाम्बी पर कुषाणों की सत्ता कनिष्क के उपरान्त इन दोनों शासकों के राज्यकाल में भी प्रतिष्ठापित थी ।[15]

आभिलेखिक गवेषण, सर्वेक्षण एवं समीक्षण के सन्दर्भ में 1929 ईस्वी वह महत्वपूर्ण स्तर है जब कि स्वर्गीय गौरीशंकर चटर्जी ने कौशाम्बी से संवत 87 को सन्दर्भित करने वाले महाराज भद्रमघ के दो महत्वपूर्ण अभिलेखों को ढूँढा था । सम्प्रति ये दोनों अभिलेख इलाहाबाद के संग्रहालय में सुरक्षित हैं । इसके ऐतिहासिक महत्व का मूल्यांकन चटर्जी महोदय ने महामहोपाध्याय गंगानाथ झा स्मृति-ग्रन्थ में किया था ।[16] प्राच्य-विद्या शोध के उस महत्वपूर्ण स्तर से लेकर अद्यतन मघ-वंश के शासकों की सत्ता के संज्ञापक जो उपकरण प्राप्त हुये हैं, उनमें अभिलेखों एवं अभिलिखित मुद्राओं की प्रचुरता है । जिन

विशेष प्राचीन स्थानों से ये उपकरण प्रकाश में लाये गये हैं, वे हैं कौशाम्बी, भीटा एवं बन्धोगढ़। इनमें कौशाम्बी के शोध अधिक महत्वपूर्ण हैं, कारण यह कि यहाँ से धरातल के अतिरिक्त धरातल के अन्तराल से भी वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार ये उपकरण उद्घाटित किये गये हैं। सम्बन्धित शासकों के मघ शब्दान्त होने के कारण ऐसी स्वाभाविक सम्भावना प्रस्तावित की जाती है कि जिस राजवंश-विशेष में इन शासकों का आविर्भाव हुआ था, उसका नाम मघ रहा होगा। किन्तु वास्तविकता यह है कि पुराणों के वंशानुचरित खण्ड में इसी राजवंश को मेघ की संज्ञा प्रदान की गई है। सम्बन्धित शासकों की संख्या नव बताई गई है तथा इनकी शासन-सत्ता के क्षेत्र को कोसल नाम दिया गया है। इसके अतिरिक्त, पौराणिक पंक्ति में इन शासकों के बुद्धि-वैभव एवं शक्ति-प्रकर्ष का भी गुणानुवाद किया गया है।[17] इस पौराणिक सन्दर्भ के परिपेक्ष्य में निम्नोक्त तथ्य विचारणीय है:

(1) पौराणिक एवं आभिलेखिक स्थलों में सन्दर्भित क्रमशः मेघ एवं मघ शब्दों में कौन सा शब्द शुद्ध एवं मौलिक है। अर्थात् सम्बन्धित राजवंश का वास्तविक नाम क्या था। (2) सम्बन्धित राजवंश के शासकों की संख्या क्या थी, जिसे पौराणिक पंक्ति में नव बताया गया है। (3) सम्बन्धित शासकों की शासनसत्ता का समय क्या माना जा सकता है, जिसे पौराणिक सन्दर्भ में पार्जीटर ने तृतीय शताब्दी ईस्वी माना है। (4) सम्बन्धित राजवंश की शासन-सत्ता का क्षेत्र क्या था? जिसे पौराणिक पंक्ति में कोसल की संज्ञा प्रदान की गई है।

प्रथम पक्ष के सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि वस्तुतः मेघ एवं मघ, इन दोनों शब्दों का तात्पर्य एक ही राजवंश से है। पुराणेतर साक्ष्य-यथा

अभिलेख एवं ~~स्वं~~ मुद्राएँ- इतना सुव्यक्त है कि कुछ-एक विद्वानों ने इस वंश के प्रतिष्ठापक का नाम ही मघ मान लिया है, जिसके कारण इस वंश को मघ-राजवंश की संज्ञा प्राप्त हुई थी[18]। यह प्रवृत्ति गुप्त-वंश के समानान्तर प्रतीत होती है, जिसके संस्थापक गुप्त अथवा श्रीगुप्त का नाम सुविदित है। यहाँ उल्लेखनीय है कि भीटा से उपलब्ध अभिलिखित मुहरों पर सरजान मार्शल एवं राय बहादुर दयाराम साहनी ने सम्बन्धित शासकों का नाम क्रमशः शिवमेघ एवं भद्रमेघ पढ़ा था।[19] ऐसे प्रस्तावित पाठ को तत्कालीन अमलानन्द घोष आदि विद्वानों ने मान्यता नहीं दी थी[20]। साक्ष्य-समीक्षण की इस संश्लिष्ट स्थिति में दो वैकल्पिक सम्भावनाएँ प्रस्तावित की जा सकती हैं। यह सम्भव है कि आलोचित राजवंश का नाम मेघ ही था, किन्तु लेखन-सुविधा अथवा लेखन-भ्रान्ति के कारण इसका लिप्यन्तरण मघ बन बैठा था। वस्तुतः द्वितीय एवं तृतीय शताब्दी ईस्वी के अभिलेखों में "ए" की मात्रा से संयुक्त होने पर भी यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि अभिलिखित अक्षर "मे" है, अथवा "म" है : मे ᒣᒧ ; म ᒧ ।

जहाँ तक इन शासकों की संख्या का प्रश्न है, अभिलेखिक एवं मौद्रिक साक्ष्यों के आधार पर इसका मूल्यांकन किया जा सकता है। अभी तक के उपलब्ध अभिलेखों से निम्नोक्त 6 शासकों के नाम प्रकाश में आये हैं : (1) वासिष्ठीपुत्र भीमसेन, (2) पोठश्री, (3) भद्र मघ, (4) वैश्रवण, (5) शिव मघ, तथा (6) भीमवर्मन्। पाषाण अभिलेखों के अतिरिक्त उक्त 6 शासकों के नाम इनकी मुद्राओं एवं मुहरों पर भी प्राप्त होते हैं। जिन

3 शासकों के नाम केवल मुद्राओं एवं मुहरों से विदित हुये हैं, वे निम्नोक्त हैं: (1) जयमघ, (2) विजयमघ एवं (3) शतमघ[21]। इस सन्दर्भ में मौद्रिक साक्ष्य का विशेष अनुशीलन कर अलटेकर ने 2 अतिरिक्त मघ शासकों का नाम प्रस्तावित किया है, जो इस प्रकार है: (1) पुरमघ एवं (2) युगमघ[22]। यदि इस प्रस्तावित मा० को मान लिया जाए तो मघ शासकों की संख्या 12 ठहरती है। किन्तु दो तथ्य ऐसे हैं, जो उक्त सम्भावना के विरोध में जाते हैं। एक तो इन मुद्राओं के लेखाक्षर स्पष्टतया एवं अन्तिम रूप में पुरमघ एवं युगमघ जैसे शब्दों का अभिद्योतन नहीं करा पाते, दूसरे इनकी शिल्प-विधि का तालमेल भी मघों की मुद्राओं से नहीं बै० पाता है। मघों का मुद्राओं के पृष्ठतल पर अनिवार्यतः वत्स जनपद का प्रतीक वृषभांकन प्राप्त होता है। किन्तु आलोचित मुद्राओं के पृष्ठतल पर गजाकृति अथवा चक्राकृति प्राप्त होती है, जो मघों की मुद्राओं की शिल्प-विधि एवं आकृति-व्यवस्था के विरुद्ध है। इस प्रकार मघ-शासकों की संख्या-विषयक सूचना पुराण एवं अभिलेखिक साक्ष्यों के सन्दर्भ में एक ही विन्दु पर केन्द्रित है, तथा दोनों की समवेता अभिव्यंजना से इनकी संख्या 9 ही ठहरती है।

तीसरी पृच्छा के सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि पुराण पंक्ति में मघ-शासकों का प्रसंग गुप्त-राज्य को सन्दर्भित करने वाली पंक्ति के ठीक पहले हुआ है। अतएव पार्जीटर महोदय के इस सुझाव को मानने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है कि मघों का आविर्भाव तृतीय शताब्दी ईस्वी

में हुआ था । इसी आशय की सूचना मघों के अभिलेखों के आन्तरिक परिशीलन से भी प्रतिध्वनित होती है, जिन्हें अनेक तथ्य-संगत अवधारणाओं के आलोक में द्वितीय एवं तृतीय शताब्दी ईस्वी में ही रखा जा सकता है । इनके तिथि-अंकन की विधि के विषय में, मिराशी महोदय का विचार है कि इनमें वर्ष एवं ऋतु प्रसंगित हैं, जो प्राग् गुप्तकालीन अभिलेखन व्यवस्था का द्योतक है । इसी विधि का अनुसरण सातवाहनों के अभिलेखों एवं कुषाणों के अभिलेखों में हुआ है । गुप्तों के शासन-काल में इस प्रथा का तिरोभाव हो चुका था । इस सन्दर्भ में भण्डारकर एवं मिराशी का समवेत निष्कर्ष रहा है कि गुप्तों के काल में अभिलेख-विधि में ऋतु-सन्दर्भण की प्रथा को मास-सन्दर्भण की प्रथा ने अपदस्थ कर लिया था[23]। वस्तुस्थिति के निश्चयार्थ इन अभिलेखों के भाषा-विषयक गठन पर भी विचार किया जा सकता है, जिनमें संस्कृत-निष्ठ प्राकृत के प्रयोग की प्रवृत्ति मिलती है । इनमें शासकों का नामांकन शुद्ध संस्कृत भाषा में हुआ है, जैसे महाराजस्य श्री भद्रमघस्य, महाराजस्य श्री भीमवर्मणः । लिपि-विषयक समीक्षा के सन्दर्भ में भी आलोचित अभिलेख प्राग् गुप्तकालीन स्तर को ही इंगित करते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि इनमें अंकित कुछ-एक अक्षर जैसे ग्रन्थि-युक्त स- ꡂ , य ꡁ और वर्तुल श- ꡀ और ह- ꡃ गुप्तकालीन अक्षरों के (प्राक्) निदर्शक हैं, तथापि अधिकांश अक्षर-आकृतियाँ नितान्त कुषाण-कालीन ब्राह्मी की समरूपिणी हैं । इन अभिलेखीय अभिव्यंजनाओं का संतोषजनक समर्थन; स्तरीकरण से सुव्यक्त सूचनाओं के द्वारा किया जा सकता है । उदाहरण के लिये भीटा

के उत्खनन में मघ-शासक भीमसेन एवं शिवमघ का नामांकन करने वाली मुहरें सर जान मार्शल को कुषाणकालीन स्तर से उपलब्ध हुई थीं[24]। इसी स्तर से भद्रमघ को नामांकित करने वाली वे बोधिसत्व प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं जो सम्प्रति इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग के संग्रहालय में सुरक्षित हैं[25]।

प्रस्तुत विवेचन के अन्तिम पक्ष के सन्दर्भ में यह कह सकते हैं कि अभिलेखिक एवं मौद्रिक साक्ष्य पौराणिक सूचना के विरोध में नहीं जाते, जिनमें मघ शासकों की शासन-सत्ता का क्षेत्र कोसल बताया गया है। इस समस्या का समाधान करते हुये मिराशी महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मघ-शासकों की शासन-सत्ता गंगा की घाटी में कौशाम्बी से लेकर आधुनिक मध्य प्रदेश में स्थित बन्धोगढ़ तक फैली हुई थी जिसका अधिकांश भाग प्राचीन चेदि-मण्डल में सम्मिलित था। उक्त विद्वान् ने ऐसा भी कहा है कि इन शासकों की राजधानी के विषय में निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता है। किन्तु यह नितान्त सम्भव है कि इनकी राजधानी कौशाम्बी में प्रतिष्ठित थी, जहाँ से इन शासकों के अधिकांश अभिलेख एवं मुद्राएँ उपलब्ध हुई हैं[26]। इस तथ्य की प्रबल सम्भावना दिखाई देती है कि इन शासकों ने अपनी राजधानी के प्रतिष्ठापनार्थ कौशाम्बी का ही चयन किया था, जो प्राचीन पूर्वांचल के व्यापारिक मार्ग पर स्थित होने के कारण अतीव महत्व का माना जाता था। सुधाकर चट्टोपाध्याय के अनुसार इस नगर के व्यापारिक महत्व के कारण ही उत्तर भारत में विभिन्न राजवंशों ने इसे अपने नियंत्रण

में रखना चाहा था, तथा अन्तिम रूप में इसे साम्राज्यीय गुप्त शासकों ने इसे अपने साम्राज्य के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया था।[27]

विषय के विशदीकरण के सन्दर्भ में विद्वानों का ध्यान एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर आकर्षित किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है । मघ शासकों के वे अभिलेख जिन पर सम्वत् 51, 57 एवं 73 सन्दर्भित हैं, बन्धोगढ़ से उपलब्ध हुये हैं, तथा वे अभिलेख कौशाम्बी से उपलब्ध हुये हैं जो संवत् 81, 83, 87, 107, 122, 130 तथा 139 सन्दर्भित करते हैं ।[28] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ में इनकी सत्ता का केन्द्र बन्धोगढ़ अर्थात् बघेलखण्ड का क्षेत्र था, किन्तु उत्तरवर्त्ती स्तरों पर सम्भवतः कुषाणों की शक्ति का ह्रास होने पर इसे कौशाम्बी में स्थानान्तरित किया गया था । पौराणिक पंक्तियों में उल्लिखित इनके कोसलाधिपत्य का तात्पर्य केवल यही है कि मूलतः ये नरेश (दक्षिण) कोसल में शासन कर रहे थे । इस प्रकार पौराणिक एवं पुराणेतर साक्ष्यों में इन शासकों की सत्ता-क्षेत्र के सन्दर्भ में कोई विरोधात्मक तत्व नहीं दिखाई देता है ।

उक्त सभी तत्त्वों पर विचार करने से यह प्रायः स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त शासकों के आविर्भाव के पूर्व प्रयाग मण्डल के दो महत्वपूर्ण स्कन्ध भीटा एवं कौशाम्बी में प्रतिष्ठित थे तथा इनके शासन का दायित्व उस वंश पर था जिसे मघ राजवंश को संज्ञा प्रदान की जाती है ।

ऐसी सम्भावना प्रस्तावित की जा सकती है कि कौशाम्बी पर शासन करने वाले सभी मघ नरेशों में सर्वाधिक शक्तिशाली भद्रमघ था । संख्या-

विषयक प्रचुरता की दृष्टि से प्रस्तुत नरेश के अभिलेख सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं । इस नरेश को वर्णित करने वाले सभी अभिलेख कौशाम्बी से प्राप्त हुये हैं । अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से प्रस्तुत नरेश के अभिलेखों को दो वर्गों में रखा जा सकता है । पहले वर्ग के निदर्शक वे अभिलेख हैं, जो धरातल अर्थात् सर्वेक्षण शोधों से प्राप्त हुये हैं । इनका विवरण निम्नोक्त है:

(1) वह अभिलेख जिसमें भद्रमघ तथा संवत्सर 81 का सन्दर्भण प्राप्त होता है । इसका प्रधान वाक्य है "महाराजस्य श्री भद्रमघस्य संवत्सरे एकाशीते 81 ग्रीष्म-पक्षे द्वितीये 2 पंचमें 5", इसे एपिग्राफिया इण्डिका भाग 24 में प्रकाशित किया गया था । सम्प्रति, यह अभिलेख इलाहाबाद के संग्रहालय में सुरक्षित है।[29] (2) वे दो अभिलेख जो भद्रमघ तथा संवत्सर 87 को सन्दर्भित करते हैं । इनका प्रधान वाक्य है " महाराजस्य श्री भद्रमघस्य संवत्सरे सप्ताशीते 87 वर्षापक्ष तृतीये 3 दिवसे 5" । ये दोनों अभिलेख एपिग्राफिया इंडिका, भाग 2 3 में प्रकाशित हुये थे, तथा इस समय इलाहाबाद संग्रहालय में सुरक्षित हैं।[30] (3) वह अभिलेख जो भद्रमघ तथा संवत्सर 88 को प्रसंगित करता है । इसका प्रधान वाक्य है "महाराज श्री भद्रमघस्य संवत्सरे 88 वर्षापक्षे 3 दिवसे 5"। इस अभिलेख में अंकित तिथि के विषय में मतैक्य नहीं है । काशी प्रसाद जायसवाल ने इसे 86 पढ़ा है, स्टेनकोनो ने 87 पढ़ा है तथा मिराशी ने 88 प्रस्तावित किया है ।

दूसरे वर्ग के निदर्शक वे अभिलेख हैं, जो घोषिताराम विहार के समुत्खनन-शोध से उपलब्ध हुये हैं। इनकी संख्या तीन है तथा इनका अभिलेखन

और प्रतिमाओं की पीठिका पर प्राप्त होता है। सम्प्रति ये तीनों अभिलेख इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इनका प्रकाशन प्रो० जे०एस० नेगी ने अपने ग्रन्थ "सम इण्डो-लाजिकल स्टडीज" में किया है।[31] इन तीनों में दो अभिलेख अंशतः भग्न अवस्था में मिले हैं। किन्तु तीसरा अभिलेख सर्वांशतः सुरक्षित है। इसका विश्लेषण निम्नोक्त प्रकार से किया जा सकता है: देवनागरी लिप्यन्तरण : मंगल चिह्न। महाराजस्य श्री भद्रमघस्य संवत्सरे 83 व० 1 दि० 1 एतये पुवये जुवासकस्य उमसकस्य खुणुकपुत्रस्य उझकस्य देयधर्म इमेण दीयए महासंघे मातपित सवसत्वन हितसुखए मम च मितिक विहारिकन परिग्रहा। हिन्दी अनुवाद: जब कि महाराज श्री भद्रमघ के संवत्सर 83 का वर्ष 1 तथा दिवस 1 चल रहा था, उस समय यह देयधर्म जुवा शक तथा खुणुक के पुत्र उझक द्वारा महासंघ में समर्पित किया गया। इसका उद्देश्य है मातापिता तथा सभी जीवों के लिये सुख की प्राप्ति। इसे मेरे सुहृद विहारवासियों की सम्पत्ति के रूप में स्वीकार किया जाय।

इसमें सन्देह नहीं कि आलोचित अभिलेख न केवल कौशाम्बी के ही, अपितु समस्त गंगा-घाटी के इतिहास के अंकनार्थ महत्वपूर्ण है। इससे प्रतिध्वनित निम्नोक्त ऐतिहासिक तत्त्व विचारणीय हैं :

(1) प्रस्तुत अभिलेख में वर्णित जुवाशक, खुणुक एवं उझक शकों के नाम प्रतीत होते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि इस अभिलेख के अंकन काल (83+78= 161 ईस्वी) में शकों का संक्रमण गंगा की घाटी में हो चुका था।

(2) इसमें प्रयुक्त महासंघ शब्द महत्वपूर्ण है । इससे यह सुव्यक्त हो जाता है कि प्रस्तुत अभिलेख के अंकन-काल में घोषिताराम विहार की देख-रेख का दायित्व बौद्धों के महासंघिक (महायान) सम्प्रदाय पर था, जिसमें उपासना एवं आराधना के निमित्त भगवान् बुद्ध की प्रतिमा को प्रधानता दी जाती थी ।

(3) आलोचित अभिलेख की भाषा-विषयक गठन भी महत्वपूर्ण है । "महाराजस्य", "श्री भद्रमघस्य" तथा "परिग्रह" शब्द विशुद्ध संस्कृत के प्रयोग के द्योतक हैं । शेष अभिलेख प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं । अर्थात् दूसरे शब्दों में अभिलेख की भाषा संस्कृत प्रभावित प्राकृत है । इस अवधारणा के आधार पर प्रस्तुत अभिलेख को उत्तरकुषाण काल में रखा जा सकता है । यह स्मरणीय है कि ब्राह्मी अभिलेखों के इतिहास में उत्तर कुषाण-काल एवं प्राग् गुप्तकाल एक ऐसे मिलन-बिन्दु का द्योतक है, जब कि प्राय: अभिलेखों की भाषा (संस्कृत-निष्ठ प्राकृत) मिश्रित बन बैठी थी ।

(4) तीसरे तर्क के आलोक में अभिलेख में प्रयुक्त संवत्सर के अभिज्ञान की समस्या को सुलझाया जा सकता है । कुषाण-काल में एक ही संवत् की परिकल्पना की जा सकती है, जिसका प्रवर्त्तक कुषाण-नरेश कनिष्क प्रथम था तथा जिसके प्रवर्त्तन की प्रारम्भ की तिथि 78 ईस्वी मानी जाती है ।

(5) लिपि-विषयक गठन की दृष्टि से प्रस्तुत अभिलेख के अक्षर श- [illegible]

स- [illegible], ह- [illegible] एवं य- [illegible] विचारणीय हैं, जिनकी आकृतियाँ

गुप्तकालीन ब्राह्मी (उत्तरी ब्राह्मी की पूर्वी शाखा) में प्राप्त होते हैं । शेष सभी अक्षर कुषाणकालीन हैं । अर्थात् दूसरे शब्दों में मिश्रित भाषा की भाँति मिश्रित वर्णमाला का भी प्रमाण प्रस्तुत करता है ।

आलोचित अभिलेख के सन्दर्भ में ऐसा कह सकते हैं कि मघ राजवंश में भद्रमघ एक प्रतिष्ठित शासक माना जाता था । उसका आविर्भाव द्वितीय शताब्दी ईस्वी में हुआ था । प्रस्तुत नरेश ने बौद्ध धर्म को संरक्षण प्रदान किया था, जिसकी क्रिया-कलाप का केन्द्र-बिन्दु घोषिताराम का महाविहार था ।

प्रसंगत: विद्वानों का ध्यान एलेन के कैटलाग आफ् दि क्वायंस इन दि ब्रिटिश म्युज़ियम की ओर आकर्षित किया जा सकता है, जिसमें द्वितीय शताब्दी ईस्वी की ब्राह्मी में "ज", "य" और "म" अक्षर आकृतियों का निदर्शन किया गया है, तथा इसके साथ वत्स जनपद का सुविदित प्रतीक चिह्न वृषभ का अंकन भी प्राप्त होता है । उक्त तीनों अक्षरों के द्वारा किस विशेष शासक का अभिद्योतन हो सकता है, इस विषय में एलेन मौन है।[32] आगे चलकर अनन्त सदाशिव अलटेकर इसी कोटि के द्योतक दो अन्य मुद्राओं को अपने विवेचन का विषय बनाया तथा यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया कि जय म इन तीनों अक्षरों से केवल विजयमघ नामक शासक के अस्तित्व की सम्भावना की जा सकती है । इसी सन्दर्भ में भीटा के उत्खनन से सर जान मार्शल को उपलब्ध उन कौशाम्बेय मुद्राओं को प्रस्थापित किया जा सकता है जिन पर विय, वि अथवा यम जैसे अक्षरों का अंकन प्राप्त होता है।[33] इन अक्षरों से अभिद्योतित शासक विजयमघ ही हो सकता है, ऐसी सम्भावना की सार्थकता को अधिकांश मुद्राशास्त्रियों ने स्वीकार किया है, जिनमें मिराशी महोदय का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है ।[34]

कौशाम्बी के मघ राजवंश के अस्तित्व की सम्भावना सबसे पहले एम०एम० नागर ने प्रस्तावित किया था । इनके वैदुष्यपूर्ण विचारों का प्रकाशन जर्नल आफ् न्युमिस्मेटिक सोसाइटी आफ् इण्डिया, 1942 के पृ०ठों में हुआ था । इस शोध-पत्रिका में नागर महोदय ने मघ राजवंश की दो

महत्त्वपूर्ण मुद्राओं की समीक्षा की है । पहली मुद्रा पर वि, ज, य तथा म अक्षर अंकित हैं, जो नागर के अनुसार विजयमघ नामक शासक को द्योतित करते हैं । इसके विपरीत दूसरी मुद्रा पर ज, य और म अक्षरों का अंकन हुआ है । नागर के अनुसार इस मुद्रा का निर्मातृ-सम्बन्ध विजयमघ के साथ नहीं स्थापित किया जा सकता है । सम्बन्धित मुद्रा से अभी तक के साक्ष्यों से अविदित एक ऐसे मघ - शासक का अभिज्ञान होता है जिसका नाम जयमघ रहा होगा ।

प्रस्तावित सम्भावना के समर्थन में नागर महोदयने निम्नोक्त तथ्यों को प्रख्यापित किया है:

§1§ आलोचित मुद्रा में वे सभी विशेषताएँ मिल जाती हैं, जो अन्य मघ मुद्राओं में उपलब्ध होती हैं । अतएव इसका कर्तृत्व-सम्बन्ध किसी मघ शासक के साथ ही स्थापित किया जा सकता है । इस सिक्के पर उत्कीर्ण ज, य एवं म अक्षरों की अंकन-योजना कुछ ऐसी है कि अभीष्ट शासक के नाम का प्रारम्भ ज से ही माना जा सकता है । मुद्रान्त पर ज के पूर्व किसी भी अतिरिक्त अक्षर को समावेशित करने के लिये अवकाश ही नहीं रह जाता अतएव इससे अभिद्योतित शासक का नाम विजयमघ नहीं हो सकता, प्रत्युत इससे जयमघ नामक एक नवीन शासक के अस्तित्व की सम्भावना अभिद्योतित होती है ।

(2) पौराणिक साक्ष्य के अनुसार मघ राजवंश में नव शासकों का आविर्भाव हुआ था। आलोचित मुद्रा की खोज के पूर्व इस वंश के मात्र आठ शासकों के नाम विदित थे, जो इस प्रकार हैं: (1) वासिष्ठीपुत्र भीमसेन, (2) पोठसिरि, (3) भद्रमघ, (4) शिवमघ, (5) शतमघ, (6) वैश्रवण, (7) भीमवर्मन तथा (8) विजयमघ। प्रस्तुत तालिका में जयमघ का नाम सम्मिलित किये जाने पर इन शासकों की संख्या नव बन बैठती है, जिसके द्वारा पौराणिक साक्ष्य की अभिव्यंजना का सत्यापन हो जाता है।

उक्त विद्वानों के अतिरिक्त, जिन्होंने आलोचित समस्या का समाधान करने का प्रयास किया है, उनमें ए० एम० शास्त्री, के०डी० बाजपेयी तथा जे०एस० नेगी के नाम उल्लेखनीय हैं। शास्त्री के अनुसार जिन मुद्रा-लेखों के आधार पर पुरमघ, युगमघ तथा जयमघ जैसे मघ-नरेशों के अस्तित्व की सम्भावना की गई है, उनकी फोटो-प्रतियाँ इतनी विकृत हैं कि प्रस्तावित नामों की सत्यता संशयशील बन जाती है।[35] बाजपेयी के अनुसार समीक्षित मुद्राओं पर ज, य एवं म अक्षरों की अंकन-व्यवस्था कुछ ऐसी है कि इनसे जयमघ और विजयमघ- ये दोनों ही नाम प्रस्तावित किये जा सकते हैं। दोनों में कौन सा नाम अभीष्ट है, यह निश्चित नहीं किया जा सकता है।[36] प्रस्तुत समस्या के समाधान के प्रयास में प्रो० नेगी ने उन महत्वपूर्ण मुद्राओं के निदर्शनों को प्रकाशित किया है, जो अप्रकाशित स्थिति में प्रयाग के प्रख्यात मुद्रा-संग्राहक श्री जिनेश्वरदास के संग्रह में सुरक्षित है। इनमें एक ऐसी मुद्रा को प्रसंगित किया गया है, जिसमें मघ सिक्कों की सभी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं,

जिसके पुरोभाग पर अपेक्षित प्रतीकांकनों के अतिरिक्त ज, य और म अक्षर वर्गाकार परिसर में अंकित हैं। अक्षर ज मुद्रा-तल के इतने किनारे पर अंकित हुआ है कि इसके पहले किसी अन्य अतिरिक्त अक्षर के अंकन की सम्भावना नहीं की जा सकती है। प्रस्तुत मुद्रा के आकस्मिक परीक्षण से यही प्रतीत होता है कि इस पर अक्षर ज को ठीक किनारे किसी भी अक्षर के समावेश की सम्भावना को रोकने के लिये अंकित किया गया है, तथा मुद्रा-लेख से अभिव्यंज्यमान शासक जयमघ ही हो सकता है। किन्तु आलोचित मुद्रा के सूक्ष्म परीक्षण से दूसरा ही तथ्य सामने आता है, तथा यह प्राय: सिद्ध हो जाता है कि मुद्रा-लेख से अभिद्योतित शासक का समीकरण केवल विजयमघ के साथ किया जा सकता है।[37] कौशाम्बी के सर्वेक्षण एवं समुत्खनन से उपलब्ध अन्य मघ मुद्राओं के परीक्षण से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि लेखांकन के समय शासक के नाम का पहला अक्षर छोड़ दिया जाता था। इस आशय के द्योतनार्थ उन मघ शासकों की मुद्राओं के निदर्शन दिये जा सकते हैं, जिन्हें अलटेकर ने समीक्षित किया है।[38] इनमें निम्नोक्त को प्रसंगित किया जा सकता है :

(1) मुद्रा-संख्या 40 : केवल व, म और घ अक्षर अंकित है। इन अक्षरों से अभिद्योतित शासक शिवमघ माना जाता है।

(2) मुद्रा-संख्या 45 : केवल श्र, व एवं ण अक्षर अंकित है । इनसे अभिद्योतित शासक का समीकरण वैश्रवण से किया जा सकता है ।

(3) मुद्रा-संख्या41 : केवल त, म एवं घ अक्षर अंकित हैं । इनसे अभिद्योत शासक का समीकरण शतमघ से किया जा सकता है ।

उक्त निदर्शनों से यह स्पष्ट है कि मुद्रा-लेखों पर प्राय: सब शासकों के नाम का पहला अक्षर अंकित किया जाता था । इसका कारण था मुद्रा-तल पर स्थानाभाव, जिसके कारण शासक के नाम से सम्बन्धित उतने ही अक्षरों को अंकित करते थे, जो शासक के अभिज्ञानार्थ आवश्यक थे । कभी-कभी मुद्राओं के अधिक आकार-लाघव के कारण शासक के नाम का अत्यधिक संकुचीकरण हो जाता था, जैसे विजयमघ के नाम को घोषित करने वाली मुद्राओं पर केवल वि अथवा विय अथवा यम अक्षरों को अंकित किया गया है । किन्तु सामान्यत: नाम के पहले अक्षर अथवा पहले भाग को छोड़ दिया जाता था, तथा केवल अन्तिम भाग को ही अंकित करते थे ।

वस्तुत: नामांकन के इन प्रसंगों में विद्वानों ने तत्सम्बन्धित भारतीय परम्परा पर ध्यान नहीं दिया है जिसका व्याख्यापन पतंजलि के महाभाष्य में समावेशित है, जिसे "नामैकदेश" कहा जाता है । "नामैकदेश" परम्परा

की आवश्यकता के अनुसार सम्बन्धित व्यक्ति के नाम उच्चारण अथवा नाम आवाहन के समय केवल एक देश अर्थात् एक भाग को प्रयोग में लाते थे । "सत्यभामा भामेति" तथा "सत्यभामा" सत्येति"इन दो उदाहरणों में पतंजलि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि कभी तो नाम के प्रथम भाग और कभी दूसरे भाग को हटा दिया जाता था । इस परम्परा के परिप्रेक्ष्य में विज शब्द एवं जयम शब्द, इन दोनों से ही विजयमघ का नाम द्योतित हो सकता है । वस्तुत: मघ राजवंश की तालिका को पौराणिक साक्ष्य के नव मघ के सन्दर्भ को समर्थित करने के लिये ए० एम० शास्त्री द्वारा प्रस्तावित इस वंश के संस्थापक के रूप में उस मघ नामक शासक को ग्रहण करने में औचित्य दिखाई देता है, जिसे प्रस्तुत विद्वान् ने कौशाम्बी की मघ मुद्रा-निधि की एक विशेष मुद्रा पर पढ़ा है । प्रस्तुत शासक को सम्मिलित करने से मघ शासकों की संख्या नव ठहरती है, जो पौराणिक साक्ष्य के सन्निकर्ष में है ।

उक्त विवेचन से यह प्राय: स्पष्ट हो जाता है कि लगभग द्वितीय एवं तृतीय शताब्दी ईस्वी में कौशाम्बी के राजनीतिक इतिहास का जो प्रकर्ष, विप्रकर्ष अथवा अपकर्ष हुआ था, उसमें मघ-शासकों ने प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया था । इस वंश में केवल नव शासकों के आविर्भूत होने की विश्वसनीय सूचना मिलती है।। जयमघ, पुरमघ तथा युगमघ के अस्तित्व की सम्भावना के संज्ञापक जिन साक्ष्यों को अभी तक प्रस्तावित किया गया है, उनमें अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति दोष के कारण स्वीकार करने में कठिनाई देती है ।

कौशाम्बी के राजनीतिक इतिहास के समीक्षक विद्वानों ने मघों के सन्दर्भ में कुछ-एक अन्य पक्षों को भी प्रकाशित करने का प्रयास किया है। पिछले पृष्ठों में यह सन्दर्भित किया जा चुका है कि कौशाम्बी पर शासन करने वाले मघ नरेशों में भद्रमघ सर्वाधिक शक्तिशाली प्रतीत होता है। जे० एस० नेगी की समीक्षा के अनुसार कौशाम्बी के अभिलेखों में वर्णित भद्रमघ तथा बन्धोगढ़[39] और गिन्जा[40] से उपलब्ध अभिलेखों में अंकित महाराजा कौत्सीपुत्र प्रौष्ठश्री (कोछिपुत पोठसिरि) - ये दोनों ही मूलतः एक ही राजवंश अर्थात् मघ राजवंश से सम्बन्धित माने जा सकते हैं। अनन्त सदाशिव अलटेकर तथा अन्य[41] विद्वानों की समीक्षा के अनुसार, वस्तुतः भद्रमघ का समीकरण महाराज कौशिकीपुत्र भद्टदेव से किया जा सकता है जो महाराज पोठसिरि का पुत्र था। पोठसिरि को बन्धोगढ़ के दो अभिलेखों में प्रसंगित किया गया है। इन दोनों में एक अभिलेख वर्ष 90 का सन्दर्भण करता है। अलटेकर के अनुसार एक ही राजवंश के दो शासक अर्थात् पिता पो०सिरि और पुत्र भद्टदेव (अर्थात् भद्रमघ) एक ही समय शासन-सत्ता सम्हाले हुये थे, इस गुत्थी को सुलझाया जा सकता है। ऐसा-प्रतीत होता है कि पोठसिरि के जीवन-काल में ही भद्रमघ ने मघ वंश का राज्य-विस्तार बन्धोगढ़ से उत्तर में कौशाम्बी तक किया था। ऐसी राजनीतिक स्थिति उस विशेष स्तर पर प्रकट हुई होगी, जबकि गंगा की घाटी में कुषाणों की सत्ता का ह्रास हो रहा था तथा इसका संकुचीकरण और पश्चिम मथुरा में हो रहा था। दिनेश चन्द्र सरकार का मत इससे भिन्न है। प्रस्तुत विद्वान् ने तीन सम्भावनाएँ प्रस्तावित किया है : (1) भद्रमघ, भीमसेन का सौतेला

छोटा भाई था, ﴾2﴿ भद्रमघ, पोठसिरि का सौतेला बड़ा भाई था, ﴾3﴿ भद्रमघ, भीमसेन का उत्तराधिकारी था, तथा उसके विरुद्ध सम्भवतः पोठसिरि ने विद्रोह किया था ।[42] स्मरणीय है कि इन तीनों वैकल्पिक सम्भावनाओं के समर्थनार्थ अभी तक कोई भी ठोस प्रमाण नहीं मिला है । इसके अतिरिक्त, पोठसिरि एवं भद्रमघ का संयुक्त शासन रहा हो, यह मत मानने में भी कठिनाई दिखाई देती है । शक-नरेशों एवं कुषाण-नरेशों के सन्दर्भ में संयुक्त शासन की सम्भावना की जा सकती है । किन्तु किसी हिन्दू राजवंश में परम्परया, ऐसी सम्भावना नहीं की जा सकती है । यह स्मरणीय है कि भद्रमघ के जितने अभिलेख अभी तक उपलब्ध हुये हैं, उनमें किसी में भी उसे पोठसिरि के पुत्र के रूप में सन्दर्भित नहीं किया गया है, जब कि पोठसिरि को उसके ﴾अर्थात् पोठसिरि के﴿ अभिलेखों में उसे ﴾अर्थात् पोठसिरि﴿ को महाराज भीमसेन का पुत्र घोषित किया गया है । इस सन्दर्भ में मोतीचन्द्र[43] एवं एन० पी० चक्रवर्ती[44] ऐसा सुझाव रखते हैं कि मघ राजवंश उस राजवंश से भिन्न माना जा सकता है, जिसमें भीमसेन का आविर्भाव हुआ था । ऐसी भी सम्भावना प्रस्तावित की जाती है कि शिवमघ, एक ही समय कौशाम्बी एवं बन्धोगढ़, इन दोनों केन्द्रों की सत्ता सम्हाल रहा था; तथा ऐसी स्थिति में उसे पोठसिरि एवं भद्रमघ का उत्तरवर्त्ती माना जा सकता है । हाल की खोजों से शिवमघ के सन्दर्भ में कुछ-एक अतिरिक्त ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक समीक्षा के अनुकूल तथ्य उद्घटित हुये हैं, जिनका विश्लेषण पुराने शोधों के साथ वक्ष्यमाण पंक्तियों में किया जाना उचित प्रतीत होता

है । सबसे पहले शिवमघ का वह विशेष प्रस्तर अभिलेख उल्लेखनीय है, जो कौशाम्बी के सर्वेक्षण-शोध से उपलब्ध हुआ था । इस मत को स्वीकार करने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है कि, इस अभिलेख को कौशाम्बी के किसी बौद्ध विहार में प्रतिष्ठापित नहीं किया गया होगा । कारण यह कि इसमें बौद्ध धर्म के संकेतक तत्वों का नितान्त अभाव दिखाई देता है । इसके विपरीत इसमें शंकरबल एवं नन्दिबल जैसे दानकर्त्ताओं के सन्दर्भित नाम इसके शैव अभिलेख होने के संकेतक हैं ।[45] वाराणसी में स्थित राजघाट से उपलब्ध एक मृण्मयी मुहर के अभिलेख में कौत्सीपुत्र शिवमघ का सन्दर्भण प्राप्त होता है ।[46] इसे निश्चयत: भीटा (इलाहाबाद) से उपलब्ध मुहर में सन्दर्भित शिवमघ से भिन्न माना जा सकता है, जिसे मातृबोधक शब्द गौतमीपुत्र से विशेषित किया गया है ।[47] कौशाम्बी से उपलब्ध मघों की मुद्रा-निधि की समीक्षा के सन्दर्भ में ए० एम० शास्त्री ने सुझाव रखा है कि मघ राजवंश में शिवमघ नामधारी दो शासकों का अविर्भाव हुआ था । शास्त्री की समीक्षा का प्रधान आधार सम्बन्धित मुद्राओं की लिपि-गत विशेषताएँ हैं; जिनके अनुसार शिवमघ को नामांकित करने वाली मुद्राओं को स्पष्ट दो वर्गों में रखा जा सकता है। वर्ग 1 : में उन मुद्राओं को रखा जा सकता है जिनमें अक्षर "श" में ह्रस्व "इ" की मात्रा पुरानी शैली, अर्थात् कोणाकार लगाया गया है : शि । वर्ग 2 : में उन मुद्राओं को सम्मिलित किया जा सकता है जिनमें "शि" के प्रदर्शनार्थ ह्रस्व "इ" की मात्रा परिवर्द्धित शैली अर्थात् वर्तुलाकार लगाया गया है : शि । शास्त्री के सुझाव के अनुसार वर्ग 1 की मुद्राएँ पुरानी मानी जा सकती है, तथा इनका

निर्मातृ-सम्बन्ध शिवनघ प्रथम से माना जा सकता है । इसके विपरीत वर्ग 2 की मुद्राएँ अवान्तरकालीन मानी जा सकती हैं, तथा इनका निर्मातृ-सम्बन्ध शिवनघ द्वितीय से माना जा सकता है ।[48] आभिलेखिक साक्ष्यों से विदित होने वाले कौशाम्बी के शासकों में भीमवर्मन् का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है । अभी तक प्रस्तुत शासक को सन्दर्भित करने वाले तीन अभिलेख प्राप्त हुये हैं । इन तीनों में क्रमशः सम्वत् (वर्ष) 122, 130 एवं 139 का सन्दर्भण हुआ है । सम्वत् 130 एवं 139 को सन्दर्भित करने वाले अभिलेख पूर्वकालीन सूरियों को मिले थे । अमलानन्द घोष के सुझाव के अनुसार इन दोनों अभिलेखों में भीमवर्मन् शब्द एक ही शासक का सम्बोधक नहीं माना जा सकता है ।[49] इसके अतिरिक्त प्रस्तुत विद्वान् का यह भी मानना है कि दोनों अभिलेखों में प्रयुक्त सम्वत् वस्तुतः गुप्त सम्वत् को इंगित करता है ।[50] इसी मत की प्रतिष्ठापना फ्लीट महोदय ने किया था ।[51] इन पूर्वसूरियों की टिप्पणियों की समीक्षा अधःयनाण पंक्तियों में प्रस्ताव्य है : (1) जैसा कि मिराशी महोदय ने सुझाव रखा है, दोनों अभिलेखों की अक्षर-आकृतियों में किसी प्रकार के भिन्नता के संज्ञापक तत्त्व नही मिलते हैं; तथा दोनों की ही लिपि कौशाम्बी से उपलब्ध अन्य मघ अभिलेखों से काफी मिलती-जुलती है । अतएव ऐसी स्थिति में दोनों अभिलेखों में सन्दर्भित भीमवर्मन् शब्द को दो परस्पर-पृथक शासक मानना उचित नहीं प्रतीत होता है । (2) घोष एवं फ्लीट ने मात्र लिपि के आधार पर इन अभिलेखों को गुप्तकालीन माना है, तथा इनमें प्रयुक्त लिपि का समीकरण गुप्त सम्वत् से किया है ।

उल्लेखनीय है कि, इन अभिलेखों की लिपि को दो स्पष्ट वर्गों में रखा जा सकता है :

वर्ग 1 इसमें वे अक्षर-आकार सम्मिलित किये जा सकते हैं, जो गुप्त-कालीन आकृतियों के समस्तरीय हैं । जैसे, स ꓡ , श ꓷ , ह ꓢ और य ꓳ

वर्ग 2 इसमें वे अक्षर-आकृतियाँ सम्मिलित की जा सकती हैं, जो कुषाण कालीन आकृतियों के समस्तरीय हैं। जैसे, क ꓕ, ख ꓓ , ग ꓵ ण ꓦ , म ꓴ , ल ꓶ , व ꓓ , तथा ष ꓰ ।

अतएव, "प्राधान्येनैव व्यपदेशा: भवन्ति" नियम के अनुसार इन अभिलेखों में कुषाण कालीन आकृतियों की प्रचुरता के कारण इन्हें कुषाणकालीन ही माना जा सकता है । इसके अतिरिक्त, इनमें गुप्तकालीन आकृतियों के ~~इनमें~~ मिलने के कारण इन्हें केवल गुप्तकालीन ब्राह्मी का पुराप्रदर्शक माना जा सकता है । यह भी स्मरणीय है कि आलोचित अभिलेखों की भाषा मिश्रित (संस्कृत-निष्ठ प्राकृत) है, जो कुषाण कालीन अभिलेखों की ही विशेषता है, क्योंकि गुप्तकालीन अभिलेख बहुश: शुद्ध संस्कृत में ही लिखे हुये हैं । अतएव ऐसी स्थिति में आलोचित अभिलेखों को कुषाणकालीन (उत्तर कुषाणकालीन) ही माना जा सकता है, तथा इनमें सन्दर्भित संवत् का समी-करण भी उस संवत् से किया जा सकता है जो कुषाण कालीन अभिलेखों में हुआ है । अर्थात् वह सम्वत्-जिसका प्रवर्त्तन कुषाण नरेश कनिष्क प्रथम

ने 78 ईस्वी में किया था । इसे गुप्त संवत् से समीकृत करने में एक और कठिनाई सामने आती है । उत्तर भारत के राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त्त के सभी शासकों को उन्मूलित कर एकछत्र साम्राज्य की स्थापना की थी, तथा यह स्थिति उसके उत्तराधिकारियों के काल में, कम-से-कम स्कन्दगुप्त के काल तक चलती रही । यदि आलोचित अभिलेखों में सन्दर्भित सम्वत् का समीकरण किया जाय तो प्रसंगित नरेश गुप्त शासकों का समकालीन बन जाता है, अतएव इस दृष्टि से विचार करने पर भी न तो इन अभिलेखों को गुप्तकालीन माना जा सकता और न हि इनमें सन्दर्भित संवत् का समीकरण गुप्त संवत् से किया जा सकता है ।

भीमवर्मन् का वह अभिलेख जिसमें संवत् 122 सन्दर्भित है, प्रयाग विश्वविद्यालय के सर्वेक्षण-शोध की उपलब्धि है । इस अभिलेख की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है कि इसमें कौशाम्बी के दूसरे बौद्ध विहार पावरियाराम का प्रसंग मिलता है, जिसकी खोज भविष्यकालीन शोध की सफलता पर निर्भर है । भीमवर्मन् के इन तीनों अभिलेखों के सन्दर्भ में जे0 एस0 नेगी ने एक स्वाभाविक पृच्छा प्रस्तावित किया है, कि इस शासक का नामान्त मघ शब्द से विशेषित नहीं है । ऐसी स्थिति में इसे मघ-शासक माना जाय अथवा नही ? इस पृच्छा के समाधानार्थ निम्नोक्त तत्व अवधारणीय है;

(1) प्रस्तुत शासक का नामांकन करने वाली मुद्राओं की विशेषता है कि इसके निर्माण में मघों की मुद्रा-निर्माण परम्परा का अनुसरण किया गया है ।

(2) प्रस्तुत शासक की मुद्राएँ कौशाम्बी से अन्य मघ शासकों की मुद्राओं के साथ उपलब्ध हुई हैं ।

(3) प्रस्तुत शासक के अभिलेखांकन में वे सभी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं, जो अन्य मघ शासकों के अभिलेखों में मिलती हैं ।

(4) मघ शब्दान्त वैश्रवण का नाम भी नहीं है, जब कि इसका मघ वंश में आविर्भूत होना सुप्रमाणित है ।

अतएव, ऐसी स्थिति में भी नवमर्मन् को मघ शासक मानना आपत्तिजनक नहीं है ।

कौशाम्बी उत्खनन के स्तरीकरण के प्रमाण से अभिव्यक्त होता है, कि यहाँ मघों के शासन के पूर्व किसी नेव अथवा नव नामक शासक की सत्ता स्थापित थी । किस विशेष राजवंश से इसका सम्बन्ध था अथवा अन्य अनेक पुरातात्विक अथवा साहित्यिक साक्ष्यों से विदित कौशाम्बी के किस विशेष राजवंश में इस नरेश का आविर्भाव हुआ था, इस आशय की संज्ञापक कोई निश्चित सूचना नहीं मिलती है । किन्तु स्तरीकरण क्रम के अनुसार यह सुनिश्चित हो जाता है कि इस नरेश का आविर्भाव 150 ईस्वी के आसपास हुआ था । अभी तक हुये शोधों से इस नरेश की केवल दो मुद्राएँ उपलब्ध हुई हैं, जिन पर द्वितीय शताब्दी ईस्वी की ब्राह्मी में नेव अथवा नव शब्द अंकित हुआ है ।

कौशाम्बी के उत्खनन से जो अन्य महत्वपूर्ण मुद्रा प्राप्त हुई है, उस पर किसी पुश्वश्री नामक शासक का नामांकन हुआ है। इस मुद्रा के पुरोभाग पर दाहिनी ओर चैत्य-वृक्ष तथा बाईं ओर सुमेरु की आकृतियाँ अंकित हैं। पृष्ठतल पर कौशाम्बी जनपद का पारम्परिक प्रतीक वृषभ का का अंकन प्राप्त होता है। इस मुद्रा की समीक्षा-सन्दर्भ में निम्नोक्त तथ्य विशेषतया ध्यातव्य हैं :

(1) इस पर अंकित ब्राह्मी के अक्षर-आकार लगभग चतुर्थ शताब्दी ईस्वी के प्रतीत होते हैं।

(2) स्तरीकरण के क्रमानुसार भी इसका समय लगभग चतुर्थ शताब्दी ईस्वी ही माना जा सकता है।

(3) सम्भवत: मुद्रांकित नरेश का आविर्भाव "श्री" शब्दान्त नामक राजवंश मे हुआ था, जिसमें अन्य मुद्राओं से विदित विष्णुश्री नामक शासक का आविर्भाव हुआ था।

सामान्य निष्कर्ष यही निकाला जा सकता है कि मघों के उपरान्त किसी "श्री" राजवंश का आविर्भाव हुआ था, जिसका अन्तिम शासक सम्भवत: पुश्वश्री था, जिसका समय चतुर्थ शताब्दी ईस्वी माना जा सकता है, जिसे सम्भवत: समुद्रगुप्त ने परास्त कर कौशाम्बी को सुदीर्घकाल के लिये गुप्त साम्राज्य का अंग बना लिया था।

पुरातात्विक एवं मौद्रिक साक्ष्यों की समवेत समीक्षा के आधार पर कौशाम्बी के अतीतकाल का पुनर्विश्लेषण सम्भवत: पुनरुक्ति दोष से आश्रित नहीं माना जा सकता है । कुछ-एक आलोचना-सापेक्ष तत्व वक्ष्यमाण पंक्तियों में प्रस्ताव्य हैं :

(1) चक्रवर्ती ने इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है कि जिसे KSBI-III की संज्ञा प्रदान की जाती है उसके स्तरीकरण क्रम पर विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि कुषाणों और मघों के शासन काल में अधिक व्यवधान नहीं है ।[53]

(2) इसके अतिरिक्त, कौशाम्बी के जितने उत्खनित साक्ष्य उपलब्ध हुये हैं, उनसे न तो मघों और गुप्तों की समकालीनता और न हि दोनों में सन्निकर्ष के संकेतक चिन्ह दिखाई देते है ।[54]

(3) कौशाम्बी के उत्खनकों ने जिसे SUB-PERIOD VI की संज्ञा प्रदान किया है, उससे कुषाणों की मुद्राओं के साथ-साथ नेव एवं मघों की मुद्राएँ उपलब्ध हुई हैं ।

(4) जिसे SUB-PERIOD VII की संज्ञा दी गई है, उससे केवल मघों की मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं ।

(5) जिसे SUB-PERIOD VIII की संज्ञा प्रदान की जाती है, उससे पुश्यश्री की मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं ।

सम्भवतः इसी स्तर पर कौशाम्बी में शासन करने वाले कुषाणों एवं स्थानीय शासकों का शासन-सत्ता का अध्याय समाप्त हो जाता है । अनुवर्ती स्तरों की विशेषता है कि इनसे एक ओर यदि गणेन्द्र के सिक्के मिले हैं, तो दूसरी ओर गुप्तकालीन विशेषताओं को अभिव्यक्त करने वाली प्रतिमाएँ भी उपलब्ध हुई हैं । गणेन्द्र का समीकरण नाग शासक गणपति नाग से किया जाता है, जो समुद्रगुप्त का समकालीन था । गणेन्द्र की मुद्राएँ स्थानीय नहीं मानी जा सकती हैं । तृतीय एवं चतुर्थ शताब्दी में कौशाम्बी एक प्रसिद्ध व्यापारिक नगर के रूप में प्रतिष्ठित था । सम्भवतः व्यापार के सिलसिले में इन मुद्राओं का कौशाम्बी में आयात हुआ होगा ।

विषय-वस्तु के महत्व की दृष्टि से, इस सन्दर्भ में कौशाम्बी के अतीत के विश्लेषण के लिये कौशाम्बी पर शासन करने वाले मित्र शासको को पुनर्विवेचन का विषय बनाना सम्भवतः अतिव्याप्ति दोष का संज्ञापक नहीं माना जायेगा । प्रधानतया मित्र वंश के संज्ञापक इस वंश से सम्बन्धित मुद्राएँ हैं । मुद्रा-परक साक्ष्यों से कम-से-कम पन्द्रह मित्र शासकों के नाम उद्घाटित हुये हैं, जबकि अभिलेखीय साक्ष्यों से केवल बृहस्पति मित्र, वरूण मित्र और शिवमित्र का पता चलता है । ऐसा सुझाव रखा गया है कि मित्र वंश में बृहस्पति नामधारी दो शासकों का आविर्भाव हुआ था । बृहस्पति मित्र प्रथम का समीकरण तन्नामधारी उस शासक से करने का प्रयास किया गया है, जो मोरा के इष्टका-अभिलेख में सन्दर्भित हुआ है, जिसकी कन्या

का विवाह मथुरा के किसी शासक के साथ हुआ था।[55] सम्भवत: बृहस्पति मित्र द्वितीय का समीकरण उसके मातुल आषाढसेन के पभोसा (कौशाम्बी) के अभिलेख में सन्दर्भित आषाढसेन के साथ किया जा सकता है।[56] वरुण मित्र का सन्दर्भ कौशाम्बी से उपलब्ध उस प्रस्तर अभिलेख में मिलता है, जो सम्प्रति इलाहाबाद के संग्रहालय में सुरक्षित है।[57] अभी तक के उपलब्ध अभिलेखों से शिवमित्र के विषय में कोई विशेष अथवा विस्तृत सूचना नहीं मिलती है।[58] इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुरातत्व प्रवीण उत्खनकों को जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण अभिलेख प्राप्त हुआ था, वह एक खण्डित प्रस्तर-खण्ड पर उट्टंकित है। प्रस्तुत अभिलेख सुप्रसिद्ध घोषिताराम विहार के समीप मिला था। सम्प्रति यह इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग के संग्रहालय में सुरक्षित है। वर्तमान स्थिति में, इस अभिलेख में सम्बन्धित शासक राजमित्र तथा उसके छब्बीसवें वर्ष का सन्दर्भण सुरक्षित है। इसमें सन्देह नहीं कि आलोचित अभिलेख में प्रयुक्त लिपि कौशाम्बी से ही उपलब्ध कुषाण एवं गुप्त अभिलेखों में प्रयुक्त लिपि की पूर्ववर्तिनी प्रतीत होती है। इस आशय को अधिक स्पष्ट करने के लिये निम्नोक्त तालिका प्रस्ताव्य है :

राजमित्र के अभिलेख में प्रयुक्त अक्षर-आकृतियाँ		कुषाणों एवं मघों के अभिलेखों में प्रयुक्त अक्षर-आकृतियाँ
मि	[illegible]	[illegible]
स	[illegible]	[illegible]
व	[illegible]	[illegible]

सम्भवतः राजमित्र के अभिलेख की निदर्शित अक्षर-आकृतियों को उन अक्षर आकृतियों का समस्तरीय एवं समकालीन माना जा सकता है, जो मथुरा से उपलब्ध उत्तरी क्षत्रप नरेशों के अभिलेखों में प्राप्त होती हैं, जिनका समय ब्यूलर ने प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व माना है, अथवा जिसके निदर्शन कौशाम्बी के घोषिताराम विहार से उपलब्ध बौद्ध आयागपट्ट अभिलेख में प्राप्त होते हैं, स्तरीकरण के क्रमानुसार जिसका समय प्रथम शताब्दी ईसापूर्व में निश्चित किया गया है ।

इस अभिलेख के ऐतिहासिक विश्लेषण के सन्दर्भमेंअन्य उल्लेखनीय तत्व अधोभाग पंक्तियों में प्रस्तावित किये जा रहे हैं । ऐसा गवेषणा-सापेक्ष सुझाव रखा गया है कि अभिलेखांकित राजमित्र का समीकरण, कौशाम्बी से ही प्राप्त मुद्रांकित राजमित्र के साथ किया जा सकता है ।[59] इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुरातत्व-कुशल उत्खनकों ने कौशाम्बी के जिस विशेष स्तर से राजमित्र की मुद्राओं को उत्खनित किया है, उसे KSBI-III/ SUB-PERIOD IV की संज्ञा प्रदान किया है, तथा इसका समय लगभग 50 ईसापूर्व और 50 ईस्वी की अन्तर्वर्ती अवधि में रखा है । इसके अतिरिक्त अलटेकर ने भी राजमित्र की उन मुद्राओं को विवेचित किया है, जो इन्हें इलाहाबाद के प्रसिद्ध मुद्रा-संग्राहक राय बहादुर ब्रजमोहन व्यास के संग्रह में मिली थीं । अलटेकर की समीक्षा के अनुसार पुरालिपि तथा प्रतीकांकनों से यह सुव्यक्त हो जाता है कि राजमित्र और प्रजापति-मित्र के काल में अधिक अन्तर नहीं माना जा सकता है । अपनी समीक्षा

को जर्नल आफ् न्युमिस्मेटिक सोसाइटी आफ् इण्डिया, भाग 4, पृष्ठ 2 में स्पष्ट करते हुये प्रस्तुत विद्वान् ने प्रजापति मित्र को प्रथम शताब्दी ईस्वी के पूर्वार्द्ध में रखा है। इसी शोध पत्रिका के उसी भाग के पृष्ठ 140 पर अल्टेकर ऐसा भी लिखते हैं कि अभिव्यक्ततः ऐसा माना जा सकता है कि राजमित्र का आविर्भाव द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के अन्तिम चरण में हुआ होगा।

आभिलेखिक एवं मौद्रिक साक्ष्यों से कौशाम्बी के सुदूर अतीत का स्वरूपांकन नहीं हो पाता, विशेषतः छठीं शताब्दी ईसापूर्व के इतिहास-अंकन में, जब कि हमें केवल बौद्ध पालि साहित्य का आश्रय लेना पड़ता है पालि साहित्य की समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् बुद्ध के काल में कौशाम्बी एक प्रसिद्ध नगर माना जाता था। महापरिनिब्बान सुत्त के अनुसार जब भगवान् ने कुशीनगर में मरने की इच्छा प्रकट की, उस समय उनके प्रिय शिष्य आनन्द ने कहा था - "भगवान् यह छोटा-सा नगर आपके परिनिर्वाण के उपयुक्त नहीं है। चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी तथा वाराणसी जैसे विशाल नगर हैं, जहाँ पर आप की मृत्यु आपके गौरव के अनुकूल होगी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध के काल में कौशाम्बी की गणना उत्तर भारत के 6 प्रसिद्ध नगरों में की जाती थी। यमुना के तट पर स्थित होने के कारण यहाँ वाणिज्य का विकास होना परम स्वाभाविक था। सम्भवतः वाणिज्य का प्रसिद्ध केन्द्र होने के कारण इसे "वत्स-पत्तन" भी कहा जाता था।[60] बौद्ध ग्रन्थों

से विदित होता है कि, यदि एक ओर इसका व्यापारिक सम्बन्ध मथुरा, पाटलिपुत्र, राजगृह, चम्पा तथा वाराणसी आदि नगरों से था, तो दूसरी ओर इसकी स्थिति उस प्रसिद्ध व्यापारिक मार्ग पर थी, जो उज्जयिनी से राजगृह जाता था ।[61] इन्हीं ग्रन्थों से ऐसी सूचना मिलती है कि एक अन्य प्रसिद्ध व्यापारिक मार्ग प्रतिष्ठान से साकेत जाता था, जिस पर उज्जयिनी, माहिष्मती, विदिशा, साकेत, कपिलवस्तु, पावा, कुशीनगर तथा वैशाली के अतिरिक्त कौशाम्बी भी स्थित था ।[62]

अभी तक कौशाम्बी के अतीत का स्वरूपांकन करने वाले गवेषकों की सामान्य धारणा यही रही है कि कुषाण-काल तक कौशाम्बी नागरीय वैभव का एक सुप्रतिष्ठित केन्द्र था, किन्तु कुषाणोत्तर काल में इसकी छवि धूमिल बन चुकी थी । वस्तुस्थिति की सर्वांग समीक्षा के समुद्घाटन के लिये इस सन्दर्भ में यह विचारणीय बन बैठता है कि ऐसी अवधारणा को निष्पक्ष मान्यता दी जा सकती है अथवा नहीं? यह स्मरणीय है कि, (1) अभी तक गवेषकों ने कौशाम्बी का केवल शैर्षिक उत्खनन किया है, जिसके परिणाम में इस नगर का केवल एकांगी विश्लेषण हो सका है । वस्तुतः किसी प्राचीन स्थान (नगर) के सर्वांग विश्लेषण के लिये उसका क्षैतिज उत्खनन आवश्यक हो जाता है ।

(2) सामान्यतया ह्वेन सांग के विवरण से पूर्णतया यह स्वीकार कर लिया जाता है कि कौशाम्बी का यह क्षेत्र-विशेष जिसे घोषिताराम विहार की संज्ञा दी जाती है चीनी यात्री के काल में उजड़ चुका था । इस

सन्दर्भ में विद्वानों का ध्यान घोषिताराम विहार से ही उपलब्ध एक मृण्मय शतदल पर अंकित अभिलेख की ओर आकर्षित किया जा सकता है, जो कुषाणोत्तर स्तर से प्राप्त हुआ था, जिस पर गुप्तकालीन लिपि में निम्नोक्त अभिलेख अंकित है: " देयधर्मो (ऽ) यं शाक्यभिक्षोः भदन्त धर्मप्रदीपस्य घोषितारामे गन्धकुट्याः भगवतो बुद्धस्य यत्र पुण्यं तद्भवतु सर्वसत्त्वानामनुत्तरज्ञानावाप्तये" अर्थात् " यह दान की वस्तु बौद्ध भिक्षु धर्मप्रदीप की ओर से घोषिताराम में स्थित भगवान् बुद्ध की गन्धकुटी में दी जा रही है, इससे उपलब्ध पुण्य सभी जीवों के लोकोत्तर ज्ञान की प्राप्ति में सहायक सिद्ध हो "। यदि इतिहास के अंकन में आभिलेखिक साक्ष्य की उपादेयता निरापद माना जाय तो आलोचित अभिलेख की अभिव्यंजना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि गुप्त काल में घोषिताराम का महत्त्व धूमिल नहीं हुआ था, तथा इस तथ्य को मान्यता दी जा सकती है कि गुप्तकाल में भी कौशाम्बी को बौद्ध धर्म का एक प्रतिष्ठित केन्द्र माना जाता था। उल्लेखनीय है कि समान आशय का अभिद्योतक एक अभिलेख सर जान मार्शल को कौशाम्बी से लगभग 25 किलोमीटर दूर देवरिया नामक गाँव से ~~एक अभिलेख~~ उपलब्ध हुआ था।[63] प्रस्तुत अभिलेख बुद्ध की प्रतिमा की पीठिका पर अंकित है, तथा इस पर गुप्तकालीन ब्राह्मी में निम्नोक्त वाक्य को सन्दर्भित करने वाला अभिलेख अंकित है : "देयधर्मो (ऽ) यं शाक्य भिक्षोर्विश्रमणः यदत्र पुण्यं तद्भवतु मातापित्रोः सर्वसत्त्वानामनुत्तरज्ञानावाप्तये" अर्थात् यह दान की वस्तु बौद्ध

भिक्षु बोधिवर्मन् की ओर से दी जा रही है, इससे उपलब्ध पुण्य माता पिता तथा सभी जीवों के लोकोत्तर ज्ञान की प्राप्ति में सहायक सिद्ध हो"। इस अभिलेखोक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि कौशाम्बी तथा समीपवर्ती क्षेत्र बौद्ध धर्म के प्रभाव में अभी गुप्त काल में चल रहे थे ।

यह उल्लेखनीय है कि इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग के संग्रहालय के संचित कौशाम्बी के पुरातन उपकरणों में एक अभिलिखित प्रस्तर-खण्ड है, जिस पर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना आवश्यक हो जाता है । दूसरी शताब्दी की नागरी लिपि में इस पर निम्नोक्त खण्डित वाक्य सुरक्षित हैं;

"अवनीतले महानगरे" अर्थात् दूसरे शब्दों में, प्रस्तुत अभिलेख के काल में कौशाम्बी की गणना महानगरों में की जाती थी । इस सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि आलोचित अभिलेख की लिपि-विषयक स्थिति, सम्बन्धित स्तरीकरण के क्रम से तालमेल नहीं खाती है । सम्बन्धित स्तर को कुषाण-कालीन माना जाता है, जहाँ से मघ शासकों की मुद्राएँ उपलब्ध हुई हैं, जिनमें कुछ-एक का समीकरण किया जा चुका है ।[64] इस स्थिति का कारण अनुमानित किया जा सकता है । यह असम्भव नहीं माना जा सकता है । किसी प्राकृतिक विप्लव अथवा राजनीतिक उथल-पुथल के कारण, यह अभिलिखित प्रस्तर-खण्ड अपने मूल स्थान से खिसक गया होगा । ऐकान्तिक साक्ष्य के रूप में ही सही, आलोचित अभिलेख इस तथ्य का संकेतक है कि

पूर्वमध्यकाल में कौशाम्बी का गौरव धूमिल नहीं हो सका था, तथा यह सम्भावना की जा सकती है कि भविष्यत्कालीन क्षैतिज उत्खनन शोध के परिणाम ऐसे साक्ष्य मिल सकें, जिनसे यह स्पष्ट हो सकता है कि विद्वानों का यह मत सर्वथा स्वीकार्य नहीं है कि कुषाण काल के उपरान्त कौशाम्बी का महत्त्व बाधित हो गया था ।

संक्षेप में ऐसा कह सकते हैं कि कौशाम्बी के सर्वेक्षण अथवा समुत्खनन शोधों से जितने अभिलेख अभी तक उपलब्ध हुये हैं, उनके आधार पर मध्य गंगा घाटी की संस्कृति के महत्त्वपूर्ण पक्षों को उद्घाटित किया जा सकता है । इन अभिलेखों की समीक्षा से यह सुव्यक्त हो जाता है कि कौशाम्बी में यदि एक ओर ब्राह्मणेतर संस्कृति पल्लवित और पुष्पित हो रही थी, तो दूसरी ओर ब्राह्मण संस्कृति की संजीवनी पर कोई ऐसा व्याघात नहीं पहुँचा था, जैसा कि सामान्यतया स्थापित किया जाता है । इसके अतिरिक्त इन अभिलेखों से मध्य गंगा की घाटी के आर्थिक इतिहास की सन्तोषजनक रूप रेखा तैयार करने में पर्याप्त सहायता मिलती है । प्राग् गुप्तकालीन एवं गुप्तकालीन तथा गुप्तोत्तर काल में इस क्षेत्र में राजनीतिक इतिहास का जो ताना-बाना बुना जा रहा था, उसे निबन्धित करने में ये अभिलेख काफी उपादेय हैं । आलोचित कालावधि अर्थात् प्रथम शताब्दी ईसापूर्व से लेकर लगभग तीन सौ ईसवी तक ब्राह्मी लिपि के अक्षर-आकारों में जो परिवर्त्तन हुये अथवा जिस विशेष परिवेश अथवा प्रेरणा में इनकी शिल्प-विधि का निर्मापन हुआ, उसे विश्लेषण एवं अध्ययन का विषय बनाने में

भी ये अभिलेख काफी सहायक सिद्ध हो सकते हैं ।

आलोचित शोध-ग्रन्थ के विषय-वस्तु के सन्दर्भ में मथुरा का पौराणिक अथवा ऐतिहासिक मूल्यांकन आवश्यक बन जाता है । यह स्पष्ट हो जाता है कि मथुरा प्राचीन भारत का एक प्रतिष्ठित नगर था । हरिवंश की सूचना के अनुसार इस नगर की स्थापना राम के अनुज शत्रुघ्न ने किया था ।[65] यहाँ पहले एक ऐसा उपवन था जहाँ मधु नामक राक्षस राज्य करता था, जिसका संहार करने के उपरान्त ही शत्रुघ्न ने इस नगर को बसाया था । अतएव यह नगर मधुपुरी, मथुरा, मेथोरा,[66] मदूरा,[67] म-त-औ-लो[68] जैसे नामों से प्रसिद्ध हुआ है । इसके अतिरिक्त आलोचित नगर के संज्ञापनार्थ शौरीपुर,[69] सूर्यपुर[70] तथा सौर्यपुर[71] जैसे शब्द भी उपलब्ध होते हैं ।

साहित्यिक साक्ष्यों की सूचना के अनुसार मथुरा व्यापार का एक प्रतिष्ठित केन्द्र था । बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ दिव्यावदान से इस नगर की आर्थिक एवं व्यापारिक गतिशीलता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । ग्रन्थ से ऐसा पता चलता है कि पाटलिपुत्र से बहुधा, यहाँ नावें आया करती थीं । नावों की संख्या-प्रचुरता से ऐसा लगता था कि मानो दोनों नगरों के बीच नावों का एक विस्तृत पुल बँधा हुआ हो ।[72] इन्द्रप्रस्थ, श्रावस्ती, कौशाम्बी तथा वैशाली आदि नगरों के साथ भी यहाँ के नागरिकों ने व्यापार-सम्बन्ध स्थापित किया था ।[73] बौद्ध ग्रन्थों में इस तथ्य के संकेतक स्थल प्राप्त होते हैं कि सम्भवतः इस नगर में कुछ दोष भी थे, तथा इस प्रकार यह आवास के लिये अनुकूल नहीं माना जाता था । अंगुत्तर

निषाद में इस नगर के पाँच दोषों को इंगित किया गया है[74] :

(1) इसके राजमार्ग समतल नहीं थे,

(2) राजमार्गों के कच्चा होने के कारण उन पर निरन्तर धूल जमी रहती थी ।

(3) नगर के अन्तर्भाग में भयंकर कुत्ते रहते थे ।

(4) इसमें कभी-कभी वन्य जीव आ जाते थे ।

(5) इसमें भिक्षा कठिनाई के साथ मिलती थी ।

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोष सामयिक थे । क्योंकि अवान्तर-कालीन ग्रन्थों से इस प्रकार की कोई सूचना नहीं मिलती है । उदाहरणार्थ हरिवंश में इसकी निम्नोक्त विशेषताओं को इंगित किया गया है : (1) यह नगर अर्द्धचन्द्र के आकार में यमुना के तट पर स्थित था, (2) इसके चतुर्दिक एक खाई थी, तथा यह एक मिट्टी के प्राकार से परिवेष्टित था (3) इसमें श्रेष्ठ प्रासाद बने थे, मनोज्ञ उपवन थे, हाथी, घोड़े और रथों के संचार के कारण इस नगर में व्यस्तता बनी रहती थी । (4) यहाँ की बाजारों का दृश्य बड़ा ही सुन्दर होता था ।[75] बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ ललितविस्तर में इस नगर की विशालता, जनसंख्या-प्रचुरता, सम्पन्नता को सन्दर्भित करते हुये इस बात पर भी बल दिया गया है कि यह नगर भिक्षा की दृष्टि से अतीव अनुकूल माना जाता था ।[76] इस नगर के सांस्कृतिक उत्कर्ष का सूक्ष्म परीक्षण पतंजलि ने अपने ग्रन्थ महाभाष्य में किया है । पतंजलि ने मथुरा के निवासियों को पाटलिपुत्र एवं सांकाश्य की भी अपेक्षा

अधिक शिष्ट बताया है ।[77] पतंजलि के काल में ही अर्थात् दूसरे शब्दों में शुंगों के काल में यवनों ने साकेत, पांचाल, माध्यमिका के अतिरिक्त मथुरा को भी अपने आक्रमण का विषय बनाया था, जिसका सन्दर्भण गार्गी संहिता के युगपुराण खण्ड में प्राप्त होता है । किन्तु इस आक्रमण से मथुरा की कोई क्षति नहीं हुई थी, जैसा कि स्वयं युगपुराण ही सन्दर्भित करता है, गृहयुद्ध के कारण यवन रुक नहीं सके, तथा उन्हें स्वदेश वापस जाना पड़ा था ।[78] द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के लगभग मथुरा पर शुंगों की सत्ता स्थापित थी, यद्यपि इस आशय के संज्ञापक विश्वसनीय साक्ष्य अभी तक नहीं मिले हैं । किन्तु, इतना तो स्पष्ट है कि लगभग प्रथम शताब्दी ईसापूर्व में यहाँ शक क्षत्रपों की प्रभुता स्थापित हो चुकी थी । इन विदेशी शासकों की सत्ता के अभिद्योतक अनेक अभिलेख एवं मुद्राएँ मथुरा के सर्वेक्षण एवं समुत्खनन शोधों से उपलब्ध हुई हैं । जिनसे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि यहाँ शक-नरेश हगामष, राजुल (रंजुबुल) तथा शोडास (शोंडास) शासन कर रहे थे । इन शासकों से सम्बन्धित कुछ-एक अभिलेखों की व्याख्या प्रस्तुत सन्दर्भ में की जा सकती है । वह अभिलेख, जिसे सिंहशीर्ष अभिलेख की संज्ञा प्रदान की जाती है, रंजुबुल के शासन-काल को सन्दर्भित करने के साथ-साथ ऐसा प्रसंगित करता है कि इस नगर में एक स्तूप एवं संघाराम का निर्माण सम्पन्न हुआ था ।[78] वह अभिलेख जिसे शोडास का प्रस्तर अभिलेख की संज्ञा दी जाती है, ऐसा प्रसंगित करता है कि इस नरेश के कोषाध्यक्ष ने यहाँ एक पुष्करिणी, कूप एवं आराम का निर्माण कराया था ।[79]

उल्लेखनीय है कि मथुरा पर विदेशी शासकों की सत्ता अवसान शक क्षत्रप शासकों के साथ नहीं हो सका । कुषाण शासक कनिष्क वासिष्क, हुविष्क और वासुदेव के उपलब्ध अनेक अभिलेख यह सुव्यक्त कर देते हैं कि (शक) संवत 4 से लेकर 98 तक कुषाणों की सत्ता यहाँ बनी रही । समान आशय का निष्कर्ष उन कुषाण शासकों की मुद्राओं से भी निकलता है जिनपर वेमा काडफिसीज़, सोतेर मेगास, कनिष्क, हुविष्क एवं वासुदेव का नामांकन प्राप्त होता है । कुषाण शासकों के अभिलेखों से तो यह सुनिश्चित हो जाता है कि कनिष्क, वासिष्क, हुविष्क और वासुदेव की सत्ता मथुरा पर स्थापित थी, किन्तु मात्र मुद्राओं की उपलब्धि के आधार पर इस मत को मानने में कठिनाई दिखाई देती है कि वेमा काडफिसीज़ ने कुषाण साम्राज्य की सीमा को मथुरा तक बढ़ाया था । प्रसंगत: यह उल्लिखित किया जा सकता है कि कभी-कभी अभिलेखों में सन्दर्भित कुषाण शासकों की सही पहचान नहीं हो पाती है । इस आशय के द्योतनार्थ उस विशेष अभिलेख की चर्चा की जा सकती है, जो मथुरा के टोकरी टीला नामक स्थान से प्राप्त हुआ था, जिसमें किसी बकनपति द्वारा देवकुल इत्यादि के निर्माण की चर्चा मिलती है ।[80] आलोचित अभिलेख की प्रथम और द्वितीय पंक्तियाँ किसी महाराज राजातिराज देवपुत्र कुषाण पुत्र षाहि वमतक्षन को प्रसंगित करती हैं । वमतक्ष के सही समीकरण के विषय में विद्वानों में मतैक्य का अभाव है । के0पी0 जायसवाल,[81] डी0आर0 साहनी,[82] वी0एस0 अग्रवाल,[83] जे0एन0 बनर्जी[84] तथा बी0एन0 मुकर्जी[85] ने वमतक्ष को वेमा काडफिसीज़ के साथ समीकृत करने

का प्रयास किया है । इसके विपरीत स्टेनकोनों तथा वर्मन ऐसा सिद्ध करने की चेष्टा करते है कि वमतक्षम को ऐसे कुषाण नरेश के रूप में ग्रहण किया जा सकता है जिसका आविर्भाव वेमा काडफिसीज़ एवं कनिष्क प्रथम के शासन-काल की अन्तर्वर्त्ती अवधि में हुआ था।[86] डी०सी० सरकार अपनी पूर्वकालीन समीक्षा में वमतक्षम का समीकरण, संवत् 22 के साँची के अभिलेख में सन्दर्भित वस्कुषाण से किया था तथा इसे कुषाण-सत्ता में कनिष्क प्रथम का सह शासक माना था ।[87] आगे चलकर प्रस्तुत विद्वान् अपने मत को संशोधित कर वमतक्षम का समीकरण वासुदेव प्रथम से किया ।[88] बी०एन० पुरी ने ऐसी स्थापना किया कि, वमतक्षम कुषाण वंश में ही उत्पन्न हुआ था तथा वह वासुदेव के उपरान्त मथुरा का बलात् शासक बन बैठा था । पुरी ने ऐसी सम्भावना भी प्रस्तावित किया कि वह तीसरे कुषाण वंश का प्रथम शासक माना जा सकता है ।[89] इस सन्दर्भ में एफ़ ० डब्लू टामस ने एक तीसरी सम्भावना प्रस्तावित किया है ।[90] प्रस्तुत विद्वान ने उस विशेष अभिलेख की अभिव्यंजना पर बल दिया है, जो संस्कृत में निबन्धित है, कुषाणकालीन ब्राह्मी में उट्टंकित है तथा मथुरा के उसी टीले से प्राप्त हुआ था, जहाँ से उक्त आलोचित अभिलेख प्राप्त हुआ था । इस अभिलेख का वर्णन महत्वपूर्ण है, जिसके अनुसार हुविष्क के पितामह के राज्य-काल में किसी ऐसे देवकुल का निर्माण सम्पन्न हुआ था, जिसका पुनर्निर्माण हुविष्क के काल में सम्पन्न हुआ था । इन दोनों अभिलेखों की समवेत समीक्षा से सम्भवतः आलोचित समस्या को सुलझाया जा सकता है, तथा वमतक्षम की पहचान भी की जा सकती है ।

इनमें पहला अभिलेख वमतक्षम के काल को सन्दर्भित करते हुये देवकुल का निर्माण प्रसंगित करता है । दूसरा अभिलेख जो इसी टीले से प्राप्त हुआ था देवकुल के पुनर्संस्कार को सन्दर्भित करता है, तथा इस तथ्य को भी प्रकाशित करता है कि इसका निर्माण मूलत: हुविष्क के पितामह के काल में हुआ था । अतएव इन दोनों अभिलेखों के आधार पर लूडर्स[91] और बी०एन० मुखर्जी[92] जैसे विद्वानों का यह निष्कर्ष सम्भवत: वस्तुस्थिति के निकट है कि वमतक्षम को हुविष्क का पितामह माना जा सकता है ।

यह उल्लेखनीय है कि कनिष्क तथा उसके वासिष्क, हुविष्क तथा वासुदेव जैसे उत्तराधिकारियों के जितने अभिलेख मथुरा (तथा अन्य स्थानों) से उपलब्ध हुये हैं, उनमें सम्वत् अथवा तिथि का सन्दर्भण प्राप्त होता है । अभी तक के उपलब्ध अभिलेखों की निम्नोक्त स्थिति है: कनिष्क प्रथम: वर्ष 3 से लेकर वर्ष 23 तक वासिष्क: वर्ष 24 से लेकर वर्ष 28 तक, हुविष्क : वर्ष 64 से लेकर वर्ष 98 तक । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस वर्ष-सापेक्ष गणना का प्रारम्भ कनिष्क प्रथम ने किया था, उसी गणना-क्रम को उसके उत्तराधिकारियों ने अपनाया था । ऐसा भी अनुमान लगाया गया है कि कनिष्क प्रथम ने किसी संवत् का प्रवर्त्तन किया था, जिसके समीकरण अथवा प्रारम्भिक तिथि के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है, जिसकी समीक्षा वक्ष्यमाण पंक्तियों में प्रस्तुत है ।

(1) प्रथम मत के प्रतिष्ठापक फ्लीट,[93] केनेडी[94] एवं कनिंघम[95]

हैं, यद्यपि बाद में कनिंघम ने अपने मत को संशोधित कर दिया था। इस मत के अनुसार आलोचित संवत् का प्रवर्त्तन कनिष्क प्रथम ने 58 ईसापूर्व में किया था। इसके अतिरिक्त इन विद्वानों ने ऐसी भी स्थापना किया है कि कनिष्क वर्ग के शासकों का आविर्भाव काडफिसीज़ वर्ग के शासकों के पूर्व हुआ था। किन्तु हाल में हुये शोधों के आलोक में यह मत बाधित हो जाता है। चीनी साक्ष्यों से सूचना मिलती है कि ता-यू-ची शाखा का प्रथम नरेश काडफिसीज़ प्रथम था, तथा काडफिसीज़ वह द्वितीय नरेश था जिसने अपने राज्य का विस्तार भारत के अन्तर्भाग में किया था।[96] यह भी स्मरणीय है कि; जिन मुद्राओं को वासुदेव प्रथम तक शासन करने वाले विदेशी शासकों ने उत्तर भारत में जारी किया था, उनके सूक्ष्म परीक्षण से यही पता चलता है कि काडफिसीज़-वर्ग के कुषाण शासकों शक पह्लवों के तुरन्त बाद तथा कनिष्क -वर्ग के शासकों के तुरन्त पहले अपने सिक्कों को जारी किया था। काडफिसीज़ प्रथम ने केवल ताँबे एवं काँसे से बने सिक्कों को चलाया था। अभी तक के शोधों से प्रस्तुत नरेश की सुवर्ण-मुद्राएँ नहीं प्राप्त हुई हैं।[97] काडफिसीज़ द्वितीय के ताँबे और काँसे के अतिरिक्त सुवर्ण-निर्मित सिक्के भी प्राप्त हुये हैं। उक्त दोनों शासकों के सिक्कों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि इनके पुरोभाग पर यूनानी लिपि एवं यूनानी भाषा में निबद्ध लेख मिलते हैं, किन्तु पृष्ठतल पर खरोष्ठी लिपि एवं प्राकृत भाषा का प्रयोग हुआ है।[98] इसके विपरीत कनिष्क के सिक्कों के सन्दर्भ में परिवर्द्धन के तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं। प्रस्तुत नरेश के सिक्कों के दोनों ही ओर

यूनानी भाषा एवं लिपि का प्रयोग किया गया है । इसके अतिरिक्त कनिष्क के सिक्कों के पृष्ठतल पर ऐसे अनेक देवी-देवताओं की आकृतियों का अंकन मिलता है, जो काडफिसीज़ वर्ग के शासकों के सिक्कों पर नहीं मिलते हैं। इस दृष्टि से काडफिसीज़ वर्ग के शासक और कनिष्क वर्ग के शासक परस्पर-पृथक् माने जा सकते हैं । इस सन्दर्भ में तक्षशिला के उत्खनन-शोधों का सविशेष उल्लेख किया जा सकता है । उत्खनन-क्रम में जो मुद्राएँ ऊपर के स्तर- अर्थात् उत्तरकालीन स्तर- से प्राप्त हुई हैं, उनमें अधिकांशत: कनिष्क-वर्ग के शासकों की मुद्राएँ सम्मिलित हैं । इसके विपरीत जो मुद्राएँ निचले स्तर अर्थात् पूर्वकालीन स्तर-से मिली हैं, उनमें अधिकांशत: काडफिसीज़ वर्ग के शासक की मुद्राएँ सम्मिलित हैं ।[99]

कुछ-एक विद्वानों ने कनिष्क के आविर्भाव-काल को तृतीय शताब्दी ईस्वी, से सम्बन्धित किया है । रमेशचन्द्र मजुमदार की स्थापना के अनुसार कनिष्क का राज्यारोहण 248 ईस्वी में हुआ था, तथा उसने त्रैकुटक कलचुरि चेदि संवत् का प्रवर्तन किया था ।[100] आर०जी० भण्डारकर की स्थापना के अनुसार कनिष्क का आविर्भाव 278 ईस्वी में हुआ था ।[101] इन दोनों मतों को स्वीकार करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि यदि यह मान लिया जाय कि कनिष्क का आविर्भाव 248 ईस्वी अथवा 278 ईस्वी में हुआ था तो इसके साथ-साथ यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि अन्तिम कुषाण शासक वासुदेव का आविर्भाव 346 अथवा 376 ईस्वी में हुआ था। किन्तु निम्नोक्त कुछ-एक ऐसी सुविदित घटनाएँ हैं, जिनके साथ इन तिथियों

का तालमेल नहीं बैठ पाता है :-

(1) पौराणिक साक्ष्य से यह सुव्यक्त हो जाता है कि कुषाण-सत्ता के अवसान होने पर कम-से-कम सात की संख्या में, नाग शासकों ने मथुरा पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था ।[102]

(2) सम्बन्धित क्षेत्र को समुद्रगुप्त ने नागों को पराजित कर ~~समुद्रगुप्त ने~~ अपने अधीन कर लिया था, जिसकी सूचना इलाहाबाद के स्तम्भ-अभिलेख से प्राप्त होती है । अभिलेखांकित देवपुत्रषाहिषाहानुषाहि जैसे वाक्य से यह अभिव्यक्त हो जाता है कि वस्तुत: कुषाणों के वंशधर उत्तर-पश्चिम भारत में सिमट कर समुद्रगुप्त का अधीनस्थ शासक बन चुके थे ।[103]

(3) अभी तक के शोधों से मथुरा से गुप्तों का जो प्राचीनतम अभिलेख उपलब्ध हुआ है, उसमें चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का नाम एवं गुप्त सम्वत् 61 सन्दर्भित है ।[104] अर्थात् दूसरे शब्दों में इस अभिलेख को 380-81 ईस्वी में रखा जा सकता है ।

(4) कनिष्क प्रथम का समय तृतीय शताब्दी ईस्वी इसलिये भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ऐसी सम्भावना तिब्बती और भारतीय दोनों ही परम्पराओं के विरोध में जाती हैं । तिब्बती परम्परा की सूचना के अनुसार कनिष्क एवं खोतानी शासक विजयकीर्त्ति समकालीन थे । विजयकीर्त्ति का आविर्भाव द्वितीय शताब्दी ईस्वी में हुआ था ।[105] भारतीय परम्परा

की सूचना के अनुसार कुषाण नरेश हुविष्क बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन का समकालीन था । नागार्जुन को द्वितीय शताब्दी ईस्वी के सातवाहन-नरेश का समकालीन माना जाता है ।[106]

§5§ चीनी बौद्ध त्रिपिटिक की ग्रन्थ-सारिणी के अनुसार अन-शि-काओ ने संघरक्ष के मार्गभूमिसूत्र का अनुवाद किया था । संघरक्ष को कनिष्क का कुलगुरू माना जाता है । इन संघरक्ष का समय 148 से 170 ईस्वी माना जाता है । अतएव, ऐसी स्थिति में यही सम्भावित लगता है कि कनिष्क का आविर्भाव 170 ईस्वी के काफी पहले हुआ था ।[107]

§6§ चीनी साक्ष्यों से पता चलता है कि कुषाण-नरेश वासुदेव का आविर्भाव 230 ईस्वी में हुआ था । ऐसी स्थिति में भी कनिष्क का समय तृतीय शताब्दी ईस्वी नहीं माना जा सकता है ।[108]

निम्नोक्त ऐसे महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं, जिनके आलोक में कनिष्क के आविर्भाव का काल द्वितीय शताब्दी ईस्वी मानने में कठिनाई प्रतीत होती है:

§1§ संवत् 41 को सन्दर्भित करने वाले आरा के अभिलेखमेंकिसी कुषाण नरेश कनिष्क का प्रसंग आया है, जिसे वझेष्क का पुत्र घोषित किया गया है ।[109] यदि कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि 78 ईस्वी मान लिया जाय, तो आलोचित अभिलेख में सन्दर्भित कनिष्क का समय 119 ईस्वी के आसपास आता है ।

(2) मौद्रिक साक्ष्यों की समीक्षा से स्पष्ट होता है कि ऐसे भी किसी कनिष्क नाम धारण करने वाले शासक का आविर्भाव माना जा सकता है, जिसका समय तृतीय शताब्दी ईस्वी ठहरता है ।[109]

(3) जूनागढ़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि कर्दमक राजवंश का प्रथम स्वतंत्र नरेश वर्ष 72 में आकर अर्थात् पूर्वी मालवा, सिन्धु अर्थात् सैन्धव क्षेत्र के निम्न क्षेत्र का पश्चिमी भाग, तथा सौवीर अर्थात् सैन्धव क्षेत्र के निम्न भाग पर शासन कर रहा था ।[110] वर्ष 22 एवं वर्ष 28 को सन्दर्भित करने वाले साँची के अभिलेख से व्यक्त होता है कि इस कालावधि में कनिष्क और वासिष्क पूर्वी मालवा पर शासन कर रहे थे ।[111]

(4) वर्ष 11 को सन्दर्भित करने वाले सुई विहार के अभिलेख से ज्ञात होता है कि कनिष्क की शासन-सत्ता सैन्धव क्षेत्र के निम्न भाग में स्थापित थी ।[112]

उक्त स्थिति के कारण, रूद्रदामन को ध्यान में रखते हुये कनिष्क के आविर्भाव-काल को द्वितीय शताब्दी ईस्वी के पूर्वार्द्ध में नहीं रखा जा सकता है । इसके अतिरिक्त यह भी स्मरणीय है कि लगभग 124-30 ईस्वी में आकर का क्षेत्र गौतमीपुत्र सातकर्णि के राज्य में सम्मिलित था । अतएव कनिष्क का समय इसके पहले ही माना जा सकता है ।[113]

उक्त अनेक तर्कों एवं साक्ष्यों को ध्यान में रखते हुये, सामान्य निष्कर्ष यही निकाला जा सकता है कि कनिष्क का आविर्भाव प्रथम शताब्दी ईस्वी के उत्तरार्द्ध में हुआ था । इस मत के प्रतिष्ठापक विद्वानों में फरगूसन,[114] ओल्डेनबर्ग,[115] आर०डी० बनर्जी,[116] डी०सी० सरकार,[117] बी०एन०मुखर्जी[118] का विशेष उल्लेख किया जा सकता है । इन विद्वानों की समीक्षा के अनुसार जिसे शक-संवत् की संज्ञाप्रदान की जाती है, तथा जिसका प्रारम्भ 78 ईस्वी में माना जाता है, उसका प्रवर्त्तक कनिष्क था ।

अभी तक के सर्वेक्षण एवं समुत्खनन-शोधों से मथुरा से कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियों को सन्दर्भित करने वाले इतने प्रचुर संख्या में अभिलेख मिल चुके हैं कि इस सम्भावना को स्वीकार करने में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि लगभग एक शताब्दी तक कुषाणों ने यहाँ राज्य किया था । मथुरा पर शासन करने वाले कुषाणों में, अन्तिम शासक वासुदेव (तृतीय) माना जाता है । चीनी साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि PO-t'iao 230 ईस्वी में शासन कर रहा था । सम्भवतः मथुरा में कुषाण-शासन का अन्तिम स्तर 230 ईस्वी ही माना जा सकता है ।

मथुरा में कुषाण-सत्ता के अवसान के उपरान्त, किन परिस्थितियों में नाग-शासकों की सत्ता स्थापित हुई, यह निश्चित नहीं है । सम्बन्धित साक्ष्यों की अल्पसंख्यक होने के कारण मथुरा पर शासन करने वाले नाग-शासकों के इतिहास का अंकन सन्तोष-जनक रूप में नहीं किया जा सकता है । इस

सन्दर्भ में केवल पौराणिक साक्ष्यों से यत्किंचित् सहायता मिल पाती है । वायु एवं ब्रह्माण्ड पुराणों की सूचना के अनुसार मथुरा क्षेत्र में सात नाग-शासकों ने शासन किया था । यहाँ उल्लेखनीय है कि महाराज गणपति नामांकित करने वाली मुद्राएँ अन्य विविध स्थानों में पद्मावती एवं विदिशा के अतिरिक्त मथुरा से भी प्रचुर संख्या में प्राप्त हुई है । इसी नरेश को गणेन्द्र की संज्ञा, भी मिली हुई थी ।[120] समुद्रगुप्त के इलाहाबाद के स्तम्भ-अभिलेख से अभिव्यक्त होता है कि सम्भवतः गणपति नाग अपने वंश का अंतिम शासक था जिसे गुप्त नरेश ने पराजित किया था ।

उक्त अनेक तर्कों एवं साक्ष्यों की समीक्षा से निम्नोक्त तथ्य प्रकाशित होते हैं:

(1) प्रथम शताब्दी ईसापूर्व से लेकर लगभग तीन सौ ईस्वी तक गंगा घाटी में कौशाम्बी एवं मथुरा सुप्रसिद्ध नगर के रूप में प्रतिष्ठित थे ।

(2) अभी तक किये गये सर्वेक्षण एवं समुत्खनन शोधों से यही व्यक्त होता है कि अधिकांशतः इस कालावधि में इन दोनों ही नगरों में ब्राह्मणेतर (बौद्ध एवं जैन) परम्पराओं का उदय एवं विकास हुआ था । किन्तु ऐसे साक्ष्य भी मिल चुके हैं, जो इस तथ्य के प्रमापक माने जा सकते हैं कि इन केन्द्रों से ब्राह्मण परम्परा का तिरोभाव नहीं हुआ था ।

(3) दोनों ही केन्द्रों में आलोचित कालावधि के राजनीतिक

आघात-प्रतिघात का समान रूप में प्रभाव पड़ा था । दोनों ही केन्द्रों ने वैदेशिक सत्ता का अनुभव लगभग तीन सौ ईस्वी तक किया था, तथा दोनों क्षेत्रों में गुप्तों के अभ्युदय के उपरान्त चिरोत्सन्न वैदिक परम्परा का प्रस्फुटन एक नये सिरे से हुआ था ।

(4) दोनों ही केन्द्रों से आलोचित कालावधि से सम्बन्धित ब्राह्मी के अभिलेख प्रचुर संख्या में उपलब्ध हुये हैं, जिनमें लिपि विषयक एवं भाषा विषयक समान विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, जिनके आधार पर इतिहास एवं संस्कृति के विभिन्न पक्षों को उद्घाटित करने वाले तथ्यों को अध्ययन, अनुशीलन एवं गवेषणा की सन्तोष-जनक रूप-रेखा तैयार की जा सकती है ।

सन्दर्भ-निर्देश

1- बी0सी0 ला, मेमायर्स आफ् आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, अंक 60, पृष्ठ 1, पी0वी0 काणे, ऐंशण्ट सिटीज् ऐण्ड टाउन्स मेंशण्ड इन दि महाभारत, जर्नल आफ् बाम्बे ब्रांच आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ् इण्डिया, भाग 27, खण्ड 1, 1951।

2- विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य, पी0वी0 काणे, तत्रैव

3- जे0सी0 जैन, *Life as depicted in the Jain Canons* Bombay, 1947 pp. 360-61

4- एस बील, दि लाइफ आफ् ह्वेनसांग (दिल्ली, 1973), खण्ड 5, पृष्ठांक 235-39; जी0आर0शर्मा, एक्सकेवेशंस ऐट कौशाम्बी इलाहाबाद, 1959) पृ0 25

5- एच0 चक्रवर्ती, ट्रेड ऐण्ड कामर्स इन ऐंशेन्ट इण्डिया (कलकत्ता, 1966) पृष्ठ, 173, मेमायर्स आफ् आर्क्यालाजिकल सर्वे, अंक 60, पृष्ठांक 3-5

6- जी0आर0 शर्मा, मेमायर्स आफ् आर्क्यालाजिकल सर्वे, अंक 74, पृष्ठ 1; इण्डियन आर्क्यालाजी- ए रिव्यू, 1953-54, 1954-55, 1955-56, 1956-57 तथा 1957-58

7- कुषाण स्टडीज (जी0आर0शर्मा द्वारा सम्पादित, इलाहाबाद 1968)

8- विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य कुषाण स्टडीज़ पृष्ठांक 4-5;
जी०आर० शर्मा, एक्सकेवेशंस ऐट कौशाम्बी-डिफेंसेज़ ऐण्ड स्येनचिति (इलाहाबाद, 1960)

9- कुषाण स्टडीज़, पृ० 57

10- उदाहरणार्थ, राजुल एवं शोडास को सन्दर्भित करने वाला सिंहशीर्ष स्तम्भ-अभिलेख, तथा मथुरा के वे अभिलेख जो केवल शोडास को सन्दर्भित करते हैं। डी०सी० सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, भाग 1, पृष्ठांक 114-123

11- जी०आर०शर्मा, मेमायर्स आफ़ आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ़ इण्डिया, अंक 74, पृष्ठ 10

12- सेन्ट्रल एशिया इन दि कुषाण पीरियड, भाग 4, पृष्ठांक 15-17

13- जी०आर०शर्मा, वही, पृष्ठ 79, द्रष्टव्य सेन्ट्रल एशिया इन दि कुषाण पीरियड, भाग 2, पृष्ठ 17

14- कामेश्वर प्रसाद, सिटीज़, क्राफ्ट्स ऐण्ड कामर्स अण्डर दि कुषाणाज़, पृ० 56

15- सेन्ट्रल एशिया इन दि कुषाण पीरियड, पृष्ठांक 82-86

16- विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य इण्डियन कल्चर, भाग 1 पृष्ठ 715

17- कोसलायां तु राजानो भविष्यन्ति महाबला: ।
मेघा इति समाख्याता बुद्धिमन्तो नवैव तु ।।
वायु पुराण 99, 373-382, ब्रह्माण्ड पुराण 3, 74, 186-193; विष्णु पुराण 4, 24, 17-18, भागवत 12, 1, 34-37

18- द्रष्टव्य, अजयमित्र शास्त्री, कौशाम्बी होर्ड आफ़ मघ क्वायंस, पृष्ठांक 41-42

19- सर जान मार्शल, आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ़ इण्डिया, रिपोर्ट 1911-12, पृ0 51; राय बहादुर दयाराम साहनी, एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 8, पृष्ठांक 15-16

20- अमलानन्द घोष, इण्डियन कल्चर, भाग 1, पृष्ठांक 715-16

21- विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य वी0वी0 मिराशी, स्टडीज़ इन इण्डालाजी, भाग 1, पृष्ठांक 139-40.

22- जर्नल आफ़ न्युमिस्मेटिक सोसाइटी आफ़ इण्डिया, 1947

23- मिराशी, तत्रैव पृष्ठ 173

24- मार्शल, तत्रैव पृष्ठ 34,51,66

25- जी0आर0 शर्मा हिस्ट्री टु प्रीहिस्ट्री, पृष्ठ 36
जे0एस0नेगी, सम इण्डोलाजिकल स्टडीज़, पृष्ठ 63

26- मिराशी, तत्रैव पृष्ठ 137

27- सुधाकर चट्टोपाध्याय, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ 142

28- कनिंघम, आर्क्यालाजिकल सर्वे रिपोर्ट भाग-3, मोतीचन्द्र,
जर्नल आफ न्युमिस्मेटिक सोसाइटी आफ इण्डिया, भाग 2, पृष्ठ 99

29- वी०वी० मिराशी, तत्रैव, पृष्ठ 135, एपिग्राफिया इण्डिका,
भाग 24 पृष्ठ 245

30- मिराशी, तत्रैव पृष्ठ 135

31- पृष्ठांक 86-89

32- एलेन, कैटलाग आफ दि क्वायंस इन दि ब्रिटिश म्युज़ियम,
पृष्ठांक 157-58

33- सर जान मार्शल, आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया फार 1911,
पृष्ठ 68, जर्नल आफ न्युमिस्मेटिक सोसाइटी आफ इण्डिया,
भाग 4, पृष्ठांक 11-12, फलक 12-13

34- मिराशी, तत्रैव पृष्ठ 138

35- ए०एम० (अजयमित्र) शास्त्री, तत्रैव पृष्ठ 29

36- इण्डियन न्युमिस्मेटिक क्रानोकिल्स, भाग 3, पृष्ठ 15

37- जे0एस0नेगी, वही पृष्ठांक 86-89

38- मेमायर्स आफ् दि आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ् इण्डिया, अंक 74

39- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 31, पृष्ठांक 167 तथा अनुवर्ती पृष्ठ

40- कनिंघम, आर्क्यालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग 21, फलक 30,
एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 3, पृष्ठ 306 के सामने निदर्शित फलक

41- जर्नल आफ् गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टिच्यूट, भाग 1, पृष्ठ 155
एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 26, पृष्ठ 293
ए कांप्रिहेंसिव हिस्ट्री आफ् इण्डिया, पृष्ठ 261

42- दि एज आफ् इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ 176

43- मोती चन्द्र, काशी का इतिहास, पृष्ठ 72

44- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 31, पृष्ठ 176

45- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 18, पृष्ठ 159

46- द्रष्टव्य वी0एस0 अग्रवाल का शोध-लेख, जर्नल आफ् न्युमिस्मेटिक सोसाइटी आफ् इण्डिया, भाग 28, पृष्ठ 412, संख्या 12

47- द्रष्टव्य सरजान मार्शल का विवरण, आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ् इण्डिया, एनुवल रिपोर्ट, 1911-12, पृष्ठ 51

48- ए०एस० शास्त्री, तत्रैव पृष्ठांक 27, 45

49- इण्डियन कल्चर, भाग 5 पृष्ठांक 177 तथा अनुवर्ती पृष्ठ

50- तत्रैव

51- कार्पस इंस्क्रिप्शनं इण्डिकेरं, भाग 5 पृष्ठांक 255 तथा अनुवर्ती पृष्ठ

52- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 24, पृष्ठ 299

53- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 31, पृष्ठ 175

54- जे०एस० नेगी, तत्रैव, पृष्ठांक 65-66

55- जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड, 1912, पृ० 120

56- डी०सी०सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, भाग 1, पृष्ठांक 97-98

57- विषय-वस्तु की विशेष समीक्षा के लिये द्रष्टव्य, इण्डियन कल्चर, भाग 1, पृष्ठ 694

58- सन्दर्भ के लिये द्रष्टव्य आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुवल रिपोर्ट, 1913-14, पृष्ठांक 262-3

59- जर्नल आफ न्युमिस्मेटिक सोसाइटी आफ इण्डिया, भाग 4, पृष्ठांक 140-41, द्रष्टव्य जे०एस० नेगी, तत्रैव पृ० 59

60- नगेन्द्र नाथ घोष, अर्ली हिस्ट्री आफ् कौशाम्बी, पृ०ठ 17

61- मललसेकर, डिक्शनरी आफ् पाली ऐण्ड प्राकृत नेम्स,
भाग 1, पृ०ठ 692

62- तत्रैव, पृ०ठ 693

63- आर्क्योलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, 1871-72, पृ०ठांक 48-49

64- इनमें निम्नोक्त के उदाहरण दिये जा सकते हैं :
(1) एनवेलप क्रम संख्या 405 (वै) श्रव (ण)
(2) एनवेलप क्रम संख्या 422 (वै) श्रव (ण)
(3) एनवेलप क्रम संख्या 427 (वै) जय (नव)
(4) एनवेलप क्रम संख्या 418, मघ
(5) एनवेलप क्रम संख्या 419, मघ

65- हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय 58

66- मैक्रिण्डल, एंशेण्ट इण्डिया, पृ०ठ 98

67- तत्रैव पृ०ठ 98

68- लेग्गे, फाहियान, पृ०ठ 42

69- जैन सूत्र (सेक्रेड बुक्स आफ् दि ईस्ट), भाग 2, पृ०ठ 112

70- यावच्च मथुरां यावच्च पाटलिपुत्रं अन्तरात् नौसङ्क्रमोऽवस्थापितः ।
दिव्यावदान (कावेल सम्पादित, कैम्ब्रिज, 1886) पृ०ठ 386

73- मललसेकर, तत्रैव भाग 2, पृष्ठ 930

74- पंचइमे भिक्खवे आदीनवा मधुरायाम् । कतमे पंच ? विसमा, बहुरजा, चण्डासुणखा, वाडयक्खा, दुल्लभपिण्डा । अँगुत्तर निकाय 3, 256

75- हरिवंश, हरिवंश पर्व, अध्याय 54

76- इयं मधुरा नगरी ऋद्धा च स्फीता च क्षेमा च सुभिक्षा चाकीर्णबहुजनमनुष्या । ललितविस्तर, अध्याय 3

77- सांकाश्यकेभ्यश्च पाटलिपुत्रकेभ्यश्च माथुरा अभिरूपतरा इति । महाभाष्य 2,416

78- डी० सी० सरकार, तत्रैव, पृष्ठ 117

79- तत्रैव पृष्ठ 119

80- जर्नल आफ यू०पी० हिस्टारिकल सोसाइटी, भाग 23, पृष्ठ 14

81- जर्नल आफ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग 16, पृष्ठ 233,

82- जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, ग्रेट ब्रिटेन ऐण्ड आयरलैण्ड, 1924, पृ० 403

83- जर्नल आफ यू०पी० हिस्टारिकल सोसाइटी, भाग 23, पृष्ठांक 74-75

84- काम्प्रिहेंसिव हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, भाग 2, पृष्ठ 231

85- बी0एन0 मुखर्जी, स्टडीज़ इन कुषाण जिनियालजी ऐण्ड क्रोनोलाजी,
पृष्ठांक 58-59

86- स्टेन कोनों, शोध-लेख के लिये द्रष्टव्य जर्नल आफ़ रायल एशियाटिक,
ग्रेट ब्रिटेन ऐण्ड आयरलैण्ड, 1932, पृष्ठ 963
घर्शमन, बेग्राम, 1946, पृष्ठ 140

87- एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ 148, पादटिप्पणी 3

88- सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, भाग 1, पृष्ठ 529

89- पुरी, इण्डिया अण्डर कुषाणाज, पृष्ठ 70

90- जर्नल आफ़ रायल एशियाटिक सोसाइटी, ग्रेट ब्रिटेन
एण्ड आयरलैण्ड, 1952, पृष्ठ 35

91- लूडर्स, मथुरा इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ 141

92- बी0एन0 मुखर्जी, तत्रैव पृष्ठ 61

93- फ्लीट, जर्नल आफ़ रायल एशियाटिक सोसाइटी, ग्रेट ब्रिटेन ऐण्ड
आयरलैण्ड, 1913, पृष्ठांक 913-20

94- केनेडी, तत्रैव 921-27

95- कनिंघम, आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ् इण्डिया, भाग 2,
पृष्ठांक 67-68

96- FAN YEH, HOU HAN-SHU (Ssu-pu pie-YAO संस्करण)
अध्याय 118, पृ० 9

97- गार्डनर, दि क्वायंस आफ् दि ग्रीक ऐण्ड सीथिक किंग्स आफ
बैक्ट्रिया ऐण्ड इण्डिया (1966), पृष्ठांक 122-23
आर०बी० ह्वाइट हेड, नोट्स आन इण्डो ग्रीक न्युमिस्मेटिक्स,
न्युमिस्मेटिक क्रोनोकिल, पृष्ठांक 178-82

98 - आर०बी० ह्वाइट हेड, तत्रैव पृष्ठांक 178-81, 183-84

99- सर जान मार्शल, तक्षशिला, भाग 1, पृष्ठ 221

100- जर्नल आफ् डिपार्टमेन्ट आफ् लेटर्स, कलकत्ता यूनिवर्सिटी,
भाग 1, पृ० 80

101- जर्नल आफ् द बाम्बे ब्रांच आफ् रायल एशियाटिक सोसाइटी,
भाग 20, पृष्ठांक 385-86

102- पार्जीटर, दि पुराण टेक्स्ट आफ् दि डाइनेस्टीज़ आफ् दि कलि एज,
(1962), पृष्ठ 53

103- हेमचन्द्र रायचौधुरी, पोलिटिकल हिस्ट्री आफ् एंशेण्ट इण्डिया,
(कलकत्ता, 1972), पृष्ठ 483

104- डी0सी0 सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, भाग 1, पृष्ठांक 277-79

105- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 14, पृ0ठ 142

106- हेमचन्द्र राय चौधुरी, तत्रैव, पृ0ठ 414, पादटिप्पणी 5

107- तत्रैव, पृष्ठांक 414-415, पादटिप्पणी 6

108- स्टेन कोनो, जर्नल आफ़ रायल एशियाटिक सोसाइटी, ग्रेट ब्रिटेन ऐण्ड आयरलैण्ड, 1932, पृ0ठ 78

109- डी0सी0 सरकार, तत्रैव पृ0ठ 154

109- स्मिथ कैटलाग आफ़ क्वायंस इन इण्डियन म्यूजियम, भाग 1, पृ0ठ, 154

110- डी0सी0 सरकार, तत्रैव पृ0ठ 178

111- तत्रैव पृष्ठांक 150-51

112- तत्रैव पृष्ठांक 139-40

113- द्रष्टव्य डी0सी0 सरकार का शोध-लेख, पेपर्स आन दि डेट आफ़ कनिष्क (ए0एल0 बाशम द्वारा सम्पादित, लन्दन, 20-22 अप्रैल, 1960)

114- जर्नल आफ् रायल एशियाटिक सोसाइटी, ग्रेट ब्रिटेन ऐण्ड आयरलैण्ड, 1880, पृष्ठांक 261-68

115- इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, भाग 10, पृष्ठ 215

116- तत्रैव भाग 37, पृष्ठ 57

117- एज आफ् इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठांक 143-46

118- पेपर्स आन दि डेट आफ कनिष्क, पृष्ठांक 200-204

119- पार्जीटर, दि पुराण टेक्स्ट आफ् ~~दि डाइ~~नेस्टीज़ आफ् दि कलि एज, पृष्ठ 53

120- स्मिथ, तत्रैव पृष्ठांक, 164, 178-79
एच०वी० त्रिवेदी, कैटलाग आफ् दि क्वायंस आफ् दि नाग किंग्स आफ् पद्मावती (1957) पृष्ठांक 22-23

सामाजिक तत्त्व

सामाजिक व्यवस्था के विघटन की पृष्ठभूमि

ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी एवं लगभग तीन सौ ईस्वी, उत्तर भारत के इतिहास का वह स्तर है जब कि भारतीय समाज विदेशी जातियों- विशेषतया बख्त्री-यवन, शक और हूणों- के आक्रमण एवं संक्रमण का विषय बन रहा था। । प्रस्तुत आशय के साक्ष्य जिन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, उनमें गार्गीसंहिता का युगपुराण खण्ड महत्वपूर्ण है । पुराणों के वंशानुचरित खण्ड की भविष्योक्ति शैली में प्रस्तुत ग्रन्थ बख्त्री-यवनों को सन्दर्भित करते हुये, इनके आक्रमण के परिणाम में सामाजिक विघटन एवं विप्लव को इंगित करता है । ग्रन्थ के अनुसार ऐसे आक्रान्त परिवेश में आर्य-अनार्य, वैश्य-शूद्र, पारम्परिक परिवर्तनवादी धर्मों में विभेद की संज्ञापक मापदण्ड की मर्यादाएँ तिरोहित हो जायेंगी । अनुवर्ती वर्णनों में ग्रन्थ ने ऐसा भी विवृत किया है कि ऐसी परिस्थिति विशेष में पारिवारिक जीवन पर तो व्याघात पहुँचेगा ही, इसके अतिरिक्त कुल-स्त्रियाँ पारम्परिक मर्यादाओं को भंग करने लगेंगी[1]। सामाजिक दुर्व्यवस्था का लगभग समान प्रत्यंकन प्राथमिक पुराणों के युगधर्म खण्ड में उपलब्ध होता है, जिसे प्रकारान्तर से कलियुग-वर्णन शब्द से संज्ञापित किया जाता है । आलोच्य विवरण में पुराणों ने धर्म के ह्रास का उल्लेख किया है, जब कि वर्णाश्रम-व्यवस्था विघटित होने लगेगी, जाति-मर्यादा में फेर बदलाव की प्रक्रिया का प्रारम्भ होगा, वैदिक मर्यादा में सम्भ्रम एवं विभ्रम का सूत्रपात होने लगेगा, ब्राह्मण वेदाध्ययन से

विमुख होने लगेंगे, वैश्य कृषि एवं वाणिज्य का परित्याग कर सेवा-वृत्ति का आचरण करने लगेंगे, शूद्रों के वर्चस्व की बढ़ोत्तरी होगी[2]।

उक्त विवरण के सन्दर्भ में, दो जिज्ञासाएँ प्रस्तावित की जा सकती हैं। एक तो यह कि इन विवरणों से सम्बन्धित पुराण-स्थलों का सम्भावित समय क्या हो सकता है, दूसरे यह कि पुराण-स्थलों से प्रतिध्वनित हिन्दू-समाज की विशृंखलता एवं विघटन के किस विशेष स्तर का अंकन-प्रत्यंकन माना जा सकता है। पहले प्रश्न का उत्तर आर०सी०हाज़रा की पौराणिक गवेषणाओं में ढूंढ़ा जा सकता है, जिनके अनुसार इनका समय ईसा की प्रथम शताब्दियों में रखा जा सकता है[3]। दूसरे प्रश्न का उत्तर बी०एन०एस० यादव के शोध में सुलभ है। प्रस्तुत विद्वान की समीक्षा के अनुसार इन पुराणों के कलियुग-विषयक विवरण में सर्वांगीण सामाजिक विघटन का प्रतिबिम्ब प्राप्त होता है, जिसमें अनेक संघटनाओं का संश्लेषएवं समिश्रण घनीभूत बन बैठे हैं। इनमें यदि एक ओर यवन, शक, कुषाण आदि विदेशियों के आक्रमण एवं संक्रमण से सम्बन्धित स्थल संकलित हुये हैं, तो दूसरी ओर चतुर्वर्ण्य-व्यवस्था के विघटन, शूद्रों के वर्चस्व एवं वैश्यों के अपकर्ष एवं पारम्परिक धर्म के पुरोधा ब्राह्मणों की अवसाद-परक स्थिति को सम्बोधित करने वाले स्थलों का संचयन हुआ है[4]।

सामाजिक विघटन की परिस्थितियों का मूल्यांकन

आलोचित कालावधि में सामाजिक विघटन का प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण कारण विदेशियों के आक्रमण एवं इसके परिणाम को मानने में कोई हानि नहीं

दिखाई देती है । यादव के अनुसार शक, पार्थियन एवं हूणों के पद-प्रक्षेप के कारण यदि एक ओर राजनीतिक-उथल-पुथल हुये थे, तो दूसरी ओर सामाजिक सन्तुलन भी, इन्हीं परिस्थितियों में व्यालोडित हुई थी।[4अ] इस सन्दर्भ में भास्कर चट्टोपाध्याय ने हमारा ध्यान आलोचित कालावधि से सम्बन्धित उन मृण्मयी मूर्तियों की ओर आकर्षित किया है, जो उत्तर भारत के प्रसिद्ध पुरातन अवशेष केन्द्रों से उपलब्ध हुई है, जिनमें मथुरा, अहिच्छत्रा, भीटा, कौशाम्बी तथा पाटलिपुत्र का सविशेष उल्लेख किया जा सकता है।[5] मथुरा की मृण्मयी मूर्तियों की समीक्षा करते हुये एन०आर०रे ऐसा सुझाव रखते है, कि इनकी आकृतियों एवं वेश-भूषा निश्चय के साथ शक-कुषाण शैली के द्वारा ओत-प्रोत है, तथा जिससे इन विदेशी जातियों का संक्रमण परिलक्षित होता है । अहिच्छत्रा से उपलब्ध मृण्मयी मूर्तियों की समीक्षा करते हुये वी०एस० अग्रवाल इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ईसा की प्रथम छः शताब्दियों में उत्तर भारत पार्थियन, शक, कुषाण, मुरूण्ड तथा श्वेत हूणों के आक्रान्ति एवं संक्रान्ति का विषय बना रहा, जिसने भारतीयों एवं भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया था।[6अ] कौशाम्बी से उपलब्ध मृण्मयी मूर्तियों की पुरातात्त्विक समीक्षा करते हुये जे०एस० नेगी एवं जी०आर० शर्मा निम्नोक्त सुझाव प्रस्तावित करते हैं। आकार-प्रकार, सज्जा-धज्जा एवं वेश-भूषा के आलोक में शक-पार्थियन शैली का संज्ञापक माना जा सकता है । स्तरीकरण के आलोक में इनका समय प्रथम एवं द्वितीय शताब्दी की अवधि के साथ समाहित किया जा सकता है । इनका निर्मातृ-क्षेत्र स्थानीय {कौशाम्बी} ही माना जा सकता है, क्योंकि {अ} ऐसी लोच-प्रचुर मूर्तियों को क्षति-विहीन स्थिति में मध्य एशिया के

सुदूर क्षेत्रों से आयात का विषय बनाना सरल नहीं था, (ब) कौशाम्बी के घोषिताराम विहार से जितने प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर लगभग तीन सौ ईसवी के अभिलेख प्राप्त हुये हैं, उनमें ऐसे शब्द उट्टंकित हैं जो शक नामों को संज्ञापित करते हैं। इनके आधार पर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आलोचित कालावधि में कौशाम्बी तथा मथुरा, अहिच्छत्रा, नन्दन गढ़ बसाढ़, पाटलिपुत्र आदि स्थानों में शकों ने अपना सन्निवेश अवश्य बना लिया था[7]। इतनी लम्बी अवधि तक इनके सन्निवेशन का भारतीय सामाजिक गति-विधि एवं भारतीयों पर इनकी सभ्यता की छाप स्वाभाविक मानी जा सकती है।

कुछ-एक विद्वानों की समीक्षा के अनुसार आलोचित अवधि में सामाजिक विसन्तुलन के लिये वेदेतर धर्मों- जैन एवं बौद्ध धर्म- को उत्तरदायी माना जा सकता है[8]। चट्टोपाध्याय की समीक्षा के अनुसार, इस कालावधि में जैन एवं बौद्ध धर्मों की गति-विधि एवं क्रिया-कलाप के कारण ब्राह्मण धर्म अपने पूर्ववर्ती प्रकर्ष-परक स्तर से अपदस्थ हो चुका था। इस सन्दर्भ में उक्त विद्वान् ने जैन धर्म से सम्बन्धित कुषाण-कालीन मथुरा से उपलब्ध अभिलेखों का उद्धरण देते हुये ऐसा सुझाव रखा है कि इस क्षेत्र में एक ऐसे जैन सम्प्रदाय का उदय हुआ था, जिसे उन जैन उपासकों के द्वारा सशक्त प्रेरणा प्राप्त हुई जिन्होंने प्रचुर संख्या में महावीर तथा पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की मूर्तियों को सम्बन्धित मन्दिरों में अभिषेचित एवं प्रतिष्ठापित किया था। बौद्ध धर्म के प्रसंग में चट्टोपाध्याय ने ऐसा व्याख्यापित किया है कि अफगानिस्तान, काश्मीर मथुरा तथा उत्तर

भारत के अन्य अनेक ऐतिहासिक स्थानों में उपलब्ध बौद्ध स्मारक एवं प्रचुर संख्या में उपलब्ध बौद्ध अभिलेख यह संशय रहित कर देते हैं कि आलोचित कालावधि में बौद्ध धर्म अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त कर चुका था ।

सामान्यतया चट्टोपाध्याय के विवरण के साथ सहमति प्रकट करने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है । उत्तर भारत के विभिन्न स्थानों से उपलब्ध पुरातात्त्विक साक्ष्य जैन और बौद्ध धर्मों के सुप्रचलन का संज्ञापन अवश्य करते हैं । किन्तु प्रसंगित विद्वान् के इस मत के साथ सहमति प्रकट करने में कठिनाई प्रतीत होती है कि इन वेद-विरोधी धर्मों के उत्कर्ष के कारण ब्राह्मण धर्म का पुरातन गौरव धूमिल बन बैठा था । वस्तुतः आलोचित कालावधि से सम्बन्धित तत्कालीन प्रायः सभी धर्मों के संज्ञापक अभिलेख प्राप्त हुये हैं । यदि एक ओर जैन एवं बौद्ध अभिलेख सर्वेक्षण एवं समुत्खनन शोधों से समुद्घाटित हुये हैं, तो दूसरी ओर ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित अभिलेखों की संख्या में भी कमी नहीं दिखाई देती है । इन अभिलेखों की समीक्षा से निम्नोक्त महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाशित होते हैं :

(1) आलोचित कालावधि में ब्राह्मण एवं ब्राह्मणेतर- दोनों ही परम्पराओं का सह-अस्तित्व विद्यमान था । दोनों में पारस्परिक संघर्ष के प्रमाण नहीं मिलते हैं ।

(2) आलोचित कालावधि के शासकों-विशेषतया कनिष्क- ने धर्म-सहिष्णुता की नीति अपनाई थी । तत्कालीन प्रचलित धर्मों में, किसी एक को भी अनुत्साहित नहीं किया था ।

§3§ आलोचित कालावधि के समाज के, अभिलेखों के प्राप्ति-स्थान की दृष्टि से, धर्म के धुरीभूत दो केन्द्र प्रतीत होते हैं । जैन एवं बौद्ध धर्मों के संज्ञापक अभिलेख नागरीय क्षेत्रों से प्राप्त हुये हैं । ऐसे क्षेत्र जैन एवं बौद्ध धर्मों की व्यापन-परिधि में अन्तर्भूत थे । इनके सन्नियमन एवं सन्निधापन की गुरूता के वोढा वाणिज्य-वृत्ति एवं शिल्प-वृत्ति के समोषक नागरक प्रतीत होते हैं । ब्राह्मण-धर्म-- जिसे प्रकारान्तर से वैदिक धर्म की ही संज्ञा दी जा सकती है -- के संजीवन एवं सन्नियमन की पृष्ठभूमि में ग्राम्यपरकता की प्रवृत्ति क्रियाशील प्रतीत होती है । इसके संवहन की गुरूता का भार ग्रामणी और ग्राम -शासक पर था ।

राज्य-नियंत्रण एवं सामाजिक परिवर्तन के मापदण्ड

सम्भवत: ऐसी परिकल्पना के लिये अवकाश मिल सकता है कि आलोचित कालावधि में प्रत्यक्षीभूत परिवर्तनों की पृष्ठभूमि में राज्य-नियंत्रण का भी योगदान रहा होगा । कुषाणों के शासन के विशेष सन्दर्भ में भास्कर चट्टोपाध्याय ने एक स्वाभाविक पृच्छा प्रस्तावित किया है कि तत्कालीन सामाजिक परिवर्तनों के लिये कुषाणों, के सत्तात्मक पूर्ण नियंत्रण की अपेक्षा की जा सकती है[9] । प्रस्तुत विद्वान् की ऐसी सम्भावना में औचित्य का अंश अवश्य दिखाई देता है कि कुषाणों की अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का भारतीय जनमानस पर अवश्य प्रभाव पड़ा होगा, जिसके कारण इन शासकों के प्रति भारतीयों की निष्ठा में बढ़ोत्तरी हुई होगी । किन्तु, इसके साथ-साथ

यह भी उल्लेखनीय है कि समाज के रचना-तंत्र पर इन शासकों के पूर्ण नियंत्रण की सम्भावना संशयशील बनी रहती है । इस सन्दर्भ में यह स्मरणीय है कि कौटिल्य ने जिस राज्य की परिकल्पना किया है, उसका सामाजिक व्यवस्था की गति-विधि पर पर्याप्त नियंत्रण दिखाई देता है । किन्तु कौटिल्योत्तर समाज में ऐसी स्थिति नहीं थी । मनुस्मृति से ज्ञात होता है कि भूमि - सम्पत्ति तथा इसके उपांगों पर व्यक्ति के निजी अधिकार की व्यवस्थापना हो चुकी थी । अतएव ऐसी सम्भावना के लिये सन्देह के लिये कोई अवकाश नहीं रह रह जाता कि आलोचित अवधि, विशेषतया कुषाण-काल में सामाजिक गति-विधियों पर राज्य का सर्वांश नियमन नहीं था । प्रान्तीय शासन की देख-भाल के लिये क्षत्रपों को नियुक्त किया गया था । किन्तु ग्रामणी अथवा ग्राम-शासक इत्यादि सन्नियोक्ताओं के सक्रिय सहयोग के बिना शासन-तंत्र के राजनियुक्त प्रशासन सुगमता के साथ शासन संचालन नहीं कर सकते थे । व्यापारियों एवं शिल्पियों के अपने पारम्परिक शासन-तन्त्र से सम्बन्धित नियम एवं आचार-संहिताएँ थीं । इन सभी पर, राज्य का नियंत्रण औपचारिक एवं नाममात्र के लिये था । आलोचित कालावधि से सम्बन्धित जितने अपेक्षित एवं उपयोगी अभिलेख-परक अथवा मुद्रा-परक साक्ष्य मिलते हैं, उनसे यही विदित होता है कि लगभग द्वितीय एवं तृतीय शताब्दी ईस्वी में ऐसे अनेक स्थानीय शासकों की सत्ता स्थापित हो चुकी थी. जो कुषाणों के शासन-तन्त्र से अप्रभावित थे तथा उनके शासन-संचालन के नियामक स्थानीय एवं पारम्परिक नियम एवं आचार-संहिताएँ थीं, जिनमें लोकतान्त्रिक पद्धतियाँ क्रियाशील थीं,

तथा जिनमें उन तत्वों के प्रक्षेप के प्रमाण नहीं मिलते हैं जो भारत में प्रवेश करने वाली विदेशी जातियों, विशेषतया कुषाणों द्वारा लाये गये थे; तथा जिसमें लोकतन्त्रात्मक आदर्शों को व्याघात पहुँचाने वाले राजतन्त्र के उदात्त आदर्शों एवं नियमों की केन्द्रीभूत सत्ता सम्राट् को माना जाता है। सम्भवत: भास्कर चट्टोपाध्याय के इस मत में यथार्थ का अंश सन्निहित है कि राज्यनियन्त्रण की तो बात ही दूर रही, कुषाणों की शासन-सत्ता अधिकांशत तत्कालीन भारतीय समाज पर ही आश्रित था।[10] वास्तविकता तो यह है, भारतीय समाज को व्यालुलित एवं विभ्रमित करने वाले प्रतिमानों का उदय बाह्य देशों एवं बाह्य जातियों के सम्पर्क के कारण प्राक् कुषाणकालीन स्तर पर हो चुका था, जिसका प्रारम्भ लगभग प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व माना जा सकता है द्वितीय एवं तृतीय शताब्दी ईस्वी के पुरातात्त्विक साक्ष्य, जो प्राय: इस अन्तर्वर्त्ती अवधि के अभिलेखों में उट्टंकित हैं; जिसे प्रकारान्तर से कुषाण-काल की संज्ञा प्रदान की जाती है केवल इन प्रतिमानों के सम्पोषण एवं संवर्द्धन का परिचय प्रस्तुत करते हैं।

सामाजिक संरचना की परिवर्तनात्मक काया में बहिर्मुखी तत्वों की भूमिका: इस सन्दर्भ में बी0एन0एस0 यादव का सुझाव रहा है कि आलोचित अवधि वर्ण-विभाजन से विशेषित भारतीय समाज के प्राचीरबन्ध में ऐसी दरारें हो गई थीं, जिनके कारण वर्ण-प्रधान समाज वर्ग-प्रधान समाज में परिवर्तित हो चुका था।[11] उक्त आशय का साक्ष्य तत्कालीन अंगविज्जा[12] नामक ग्रन्थ में प्राप्त होता है। आलोचित ग्रन्थ में समाज के दो प्रधान

वर्ग सन्दर्भित हुये हैं । पहले वर्ग को अज्ज (आर्य) तथा दूसरे वर्ग को पेस्स (प्रैष्य) शब्दों से अभियापित किया गया है । पहले वर्ग में सम्मिलित सदस्यों को कुलीनों का द्योतक माना गया है । दूसरे वर्ग में दास, भृतक, सेवक आदि सम्मिलित थे, जिनमें अधिकांश की परिचर्या-वृत्ति थी तथा जिन्हें परांश्रितों का द्योतक माना जा सकता है । समाज-संरचना की ऐसी नवीन अवधारणा, जो यथार्थत: पारम्परिक समाज के गठन में विसन्तुलन की द्योतक थी, पौराणिक स्थलों में भी उपलब्ध होती है । सम्बन्धित पौराणिक उल्लेखों के अनुसार, ऐसे परिवेश में जब कि भारतीय समाज विदेशी जातियों के आक्रमण के आघात प्रतिघात का विषय बना था, सामाजिक स्तर की निर्णायक जन्म-विषयक अवधारणा विलुप्त हो चुकी थी । सामाजिक स्तर का निर्धारण सम्पत्ति और समृद्धि के आधार पर होने लगा था ।[13] उक्त आशय के प्रमापक स्थल बौद्ध ग्रन्थ मिलिन्दपन्ह में भी प्राप्त होते हैं । सम्बन्धित स्थलों के अनुसार समाज के दो प्रधान वर्ग हैं । निम्न वर्ग में साधारण वैश्य और शूद्र सम्मिलित किये गये हैं । कृषि एवं पशु-पालन इनकी जीविका बताई गई है । उच्च-स्तरीय वर्ग में समृद्ध वैश्यों एवं ब्रह्म-क्षत्र को सम्मिलित किया गया है ।[14] प्रसंगित साक्ष्य के आलोक में यह निष्कर्ष निकालना औचित्य-पूर्ण प्रतीत होता है कि आलोचित कालावधि ने वैश्यों के दो वर्गों के आविर्भाव को प्रत्यक्षित किया था । पहले वर्ग से सम्बन्धित वे वैश्य थे, जिनका सन्निवेश ग्राम था तथा जिन्हें शूद्रों का समस्तरीय माना जाता था । दूसरे वर्ग से सम्बन्धित वैश्यों को नागर वैश्य की संज्ञा दी जा सकती है, जिनकी आजीविका का आधार वाणिज्य-व्यापार था । वैश्यों का यह वर्ग समृद्धिशाली था ।

तत्कालीन अभिलेखों में धार्मिक दानों के सन्दर्भण के विषय इसी वर्ग के वैश्य थे

ग्राम्य-परक अभिजात्य का उदय

आलोचित कालावधि में विदेशी आक्रमणों के कारण, जो अन्य सामाजिक परिवर्तन हुये उनमें ग्राम्य-परक अभिजात्य के उदय का उल्लेख किया जा सकता है । इस सन्दर्भ में तत्कालीन एक जैन अभिलेख का उल्लेख किया जा सकता है, जिसमें दो पृथक् ग्रामों से सम्बन्धित "ग्रामिक" का प्रसंग आता है ।[15] इसमें सन्देह नहीं कि सन्दर्भित "ग्रामिक" शब्द ऐतिहासिक समीक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण है । सामान्यतया इसका अर्थ ग्राम का प्रधान माना गया है । यादव की समीक्षा के अनुसार ऐसे परिवेश में जब विदेशी आक्रमणों के कारण राजनीतिक विघटन एवं विसन्तुलन की प्रवृत्तियाँ प्रभावक बन बैठी थीं, ग्राम-प्रधान मात्र ग्राम का मुखिया नहीं था अपितु वह ग्राम का अधिपति हो चुका था । सम्भवतः यादव का उक्त सुझाव यथार्थ स्थिति का ही निदर्शक है, जिसका संज्ञापक साक्ष्य कालकाचार्यकथानक[16] में उपलब्ध होता है । आलोचित रचना में ऐसे विदेशी आक्रान्ताओं का प्रसंग आता है, जिन्होंने विजित भूमि-क्षेत्रों के अधिपति के रूप में अपने सन्निवेश को स्थापित किया था । जहाँ अभिलेखोक्त ग्रामिक शब्द के तात्पर्य अथवा अभिव्यंजना का प्रश्न है इसका समीकरण मनुस्मृति में सन्दर्भित "ग्रामस्य अधिपति" के साथ किया जा सकता है ।[17] सम्भवतः आलोचित शब्द मिलिन्दपन्ह में प्रसंगित "ग्राम-सामिक" का समस्तरीय माना जा सकता है ।[18] जो ग्राम के अधिपति का

द्योतक है । स्वामी (प्राकृत सामिक) शब्द को व्याख्यापित करते हुये, डी0सी0 सरकार इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह शब्द शासकीय उपाधि का द्योतक है, जिसे शक कुषाण राष्ट्रीयता के नरेश धारण करते थे, तथा जिसे सातवाहन-वंश के नरेशों ने अपना लिया था।[19] सरकार का ऐसा भी सुझाव रहा है कि आलोचित शब्द (उपाधि) की उत्पत्ति वैदेशिक मानी जा सकती है।[20] सरकार के सुझाव के समर्थन में मथुरा से उपलब्ध वे ब्राह्मी अभिलेख रखे जा सकते हैं, जिनमें आलोचित शब्द अंकित मिलता है, तथा जिन्हें उत्तरी क्षत्रप (शक) नरेशों के समय (लगभग प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व) से सम्बन्धित किया जाता है।[21] "स्वामी" शब्द को "मुरूण्ड" शब्द का समानार्थक संस्कृत शब्द माना जा सकता है, जो मूलत: हिन्दू-सीथियन शब्द था, जिसका अर्थ स्वामी अथवा अधिपति माना जाता था । "मुरूण्ड" शब्द आलोचित कालावधि के ब्राह्मी अभिलेखों में निरूपणीय नहीं है । किन्तु, इस सन्दर्भ में यादव ने हमारा ध्यान वर्ष 303 का अंकन करने वाले पेशावर से उपलब्ध एक खरोष्ठी-अभिलेख की ओर आकर्षित किया है।[22] प्रसंगित अभिलेख की विशेषता यह है कि इसमें एक तो "ग्रामस्वामी" शब्द का उल्लेख हुआ है, दूसरे यह शब्द "महाराज" शब्द द्वारा विशेषित हुआ है ("महाराजस्य ग्रामस्वामिन:")। यह अभिलेख कुषाणकालीन माना जाता है, तथा इसके साक्ष्य से ग्रामस्वामी शब्द की शासक-परक एव उपाधि-परक व्याख्यापना अभिव्यंजित हो जाती है । वस्तुत: आलोचित अभिलेख में प्रयुक्त महाराज शब्द तत्कालीन कुषाण-शासक को अभिद्योतित करता है, तथा ग्रामस्वामी शब्द कुषाण-शासक के क्षत्रप (प्रान्तपति) का अभिद्योतक है । उक्त क्षत्रप की शासनाधीन सत्ता-क्षेत्र में

सन्दर्भित ग्राम, क्षत्रप को शासक से (जागीर के रूप में) मिला था । अतएव ऐसी स्थिति में विद्वानों की यह सम्भावना समर्थित हो जाती है कि आलोचित कालावधि में वैदेशिक आक्रान्ताओं के संक्रमण के कारण भारतीय समाज को विसन्तुलित करने वाले उस राजनीतिक संस्था का पद-प्रक्षेप हुआ था, जिसे आधुनिक राजनय की परिभाषा में " Landed Aristocracy की संज्ञा प्रदान की जाती है ।

आलोचित कालावधि की सामाजिक संरचना पर वैदेशिक आक्रमणों के प्रभाव की इयत्ता :पुनर्मूल्यांकन

बी०एन०पुरी के मतानुसार यूनानी, पार्थियन, शक एवं कुषाणों के आक्रमण के परिणाम में भारतीय समाज की मूलभूत संरचना पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था । इनके आक्रमण के बावजूद भारतीय समाज की जीवन-शक्ति बनी रही, तथा इसकी व्यापक परिधि में उक्त आक्रामक जातियाँ अन्तर्भूत हो गई थीं[23] । किन्तु पुराणों के साक्ष्य जो चित्र उपस्थित करते हैं, वे उक्त सुझाव के विरोध में जाते हैं । इस सन्दर्भ में हाजरा ने हमारा ध्यान विष्णुपुराण के उन स्थलों की ओर आकर्षित किया है, जिसकी समयावधि भारतीय इतिहास के उस उल्लेखनीय स्तर से सम्बन्धित है; जब कि उत्तर भारत में कुषाणों की सत्ता प्राय: समाप्त हो रही थी, तथा गुप्तवंश का उदय अभी नहीं हुआ था । स्थूलतया यह समयावधि ईस्वी के तृतीय शताब्दी उत्तरार्द्ध एवं चतुर्थ शताब्दी ईस्वी के पूर्वार्द्ध के अन्तर्वर्त्ती स्तर में अनुमानत:

निश्चित की जा सकती है । यद्यपि सम्बन्धित पौराणिक वर्णन की शैली में अतिरंजनात्मक तत्वों के प्रक्षेपण को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है, तथापि ऐतिहासिक मूल्यांकन के निकष से समीक्षित करने पर, तथा मिलिन्द-पन्ह इत्यादि पुराणेतर ग्रन्थों के साक्ष्यों से इनका ताल-मेल बैठाने पर इनकी यथार्थता पर सहसा सन्देह भी नहीं किया जा सकता है । इन पौराणिक स्थलों के कलियुग-वर्णन खण्ड में; विदेशी आक्रान्ताओं के क्रिया-कलाप, उनकी गतिविधियों के कारण राजनीतिक पटल पर उथल-पथल एवं विपर्यय, सामाजिक संरचना के पारम्परिक प्रारूप पर व्याघात तथा चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के विसन्तुलन का सविस्तार चित्रांकन हुआ है । इसके अतिरिक्त इनमें विदेशी आक्रमकों की जातिविहीनता, दुराचार एवं पापाचारण तथा इनकी ब्राह्मण-धर्म-विरोधी प्रवृत्ति पर बार-बार बल दिया गया है । अतएव पुरी के उक्त सुझाव के प्रति सहमति प्रकट करने में कठिनाई प्रतीत होती है, तथा यह सुव्यक्त हो जाता है कि कम-से कम अस्थायी रूप में भारतीय समाज की पारम्परिक व्यवस्था पर इनके आक्रमण का विपरीत प्रभाव अवश्य पड़ा था

समाज के नैतिक स्तर के पतन के संकेतक स्थल

पुराणों के उक्त कलियुग-वर्णन खण्ड में एक अन्य अतिरिक्त आलोचना-सापेक्ष स्थल प्राप्त होता है, जिसके अनुसार समाज के नैतिक स्तर का काफी पतन हो चुका था, गृही एवं गृहिणी के पारस्परिक सम्बन्ध में पारम्परिक धार्मिक कृत्यों का स्थान गौण हो चुका था, इसमें वासना की प्रधानता

आ चुकी थी, स्त्रियों को मात्र काम-वासना की पूर्ति का विषय माना जाता था । इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि सन्दर्भित पौराणिक विवरण को सहसा पुराण-संकलनकर्त्ता की कल्पना-प्रसूति नहीं माना जा सकता है । आलोचित कालावधि में विदेशी जातियों के आक्रामक एवं संक्रामक गतिविधियों के कारण, भारतीय समाज की पारम्परिक मान्यताओं में अधिकांशतः विपर्यास की स्थिति आ रही थी - ऐसी सम्भावना के समर्थनार्थ एक वैदेशिक साक्ष्य को प्रस्तावित किया जा सकता है । प्रसंगित साक्ष्य " *Laws of Countries by Bardesanes"* " के आलोचना-अनुकूल को बी०एन० मुखर्जी ने कुषाणकालीन समाज के सन्दर्भ में अतीव महत्वपूर्ण माना है । उक्त स्थल के अनुसार क्षत्री जातियों में जिसे कुषाण की संज्ञा प्रदान की जाती है, उसकी स्त्रियाँ पुरुषों के आकर्षक अलंकार धारण करती हैं, जो सोने और मोती के बने होते हैं; इनमें आवरण-विषयक शुचिता का नितान्त अभाव रहता है; इनका यौन सम्बन्ध अपने दासों अथवा उनके देश के विदेशी यात्रियों के साथ रहता है; ऐसी स्त्रियों को स्वच्छन्द विहार, वासना-लोलुपता एवं एतदर्थ अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क स्थापित करने के लिये इनके पतियों की ओर से पूरी छूट रहती थी ।[24]

उक्त आलोचित उद्धरण की ऐतिहासिक व्याख्या करते हुये बी०एन० मुखर्जी ऐसी पृच्छा प्रस्तावित करते हैं कि उक्त स्थल जो तत्कालीन समाज के नैतिक स्तर के पतन का द्योतक है, बैक्ट्रियन समाज की स्थिति का संज्ञापक

है अथवा इसे उक्त साहित्य में सम्बन्धित शत्री-कुषाणों के संक्रमण एवं आक्रमण द्वारा प्रभावित भारतीय समाज का द्योतक माना जा सकता है । मुखर्जी की पृच्छा का उत्तर उक्त पौराणिक साहित्य में ढूँढा जा सकता है, जिसके अनुसार पतनशील नैतिक आचरण वाले विदेशी आक्रान्ताओं का भारतीयों की आचरणशीलता का दुष्प्रभाव पड़ा था । बी०एन० मुखर्जी के इस अनुमान-परक निष्कर्ष को स्वीकार करने में कोई हानि नहीं दिखाई देती कि आलोचित अवधि के व्यापारियों एवं अन्य समृद्धिशाली एवं प्रभावशाली लोगों के ऐश्वर्य एवं सम्पत्ति का अनुमान प्रचुर संख्या में मिलने वाले दान के संज्ञापक अभिलेखों द्वारा लगाया जा सकता है, तथा इसके साथ-साथ यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि यही वर्ग अपनी सम्पत्ति का उपयोग मानव-सुलभ सहज प्रकृति की प्रेरक शुचिता-च्युत सन्दर्भ में लगा रहा होगा।[25]

उक्त अनुच्छेदों में उन सामान्य प्रवृत्तियों एवं विशेष परिस्थितियों का सर्वेक्षण किया गया है, जिनके आलोक में आलोचित कालावधि की सामाजिक संरचना के संज्ञापक मापदण्डों का अधिकांशतः अथवा अल्पांशतः मूल्यांकन हो जाता है; तथा इनकी पृष्ठभूमि में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध से सम्बन्धित ब्राह्मी के उन सुविज्ञात, अल्पज्ञात, सुसमीक्षित, अल्पसमीक्षित अथवा असमीक्षित अभिलेखों के आधार पर समाज के उन विविध पक्षों को समीक्षा का विषय बनाया जायेगा, जो ऐतिहासिक व्याख्या के लिये पूर्वसूरियों अथवा अवान्तरकालीन विद्वानों द्वारा समीक्षा के लिये अपेक्षित माने गये हैं ।

वैदिक अथवा ब्राह्म संस्कृति एवं आलोचित कालावधि की सामाजिक संरचना: आलोचित कालावधि के जितने ब्राह्मी के अभिलेख कौशाम्बी एवं मथुरा से उपलब्ध हुये हैं उनमें जैन अभिलेखों और बौद्ध अभिलेखों की प्रचुरता है । इनमें ब्राह्मण धर्म के संकेतक अभिलेख कम संख्या में हैं । ऐसी स्थिति का सम्भावित कारण क्या हो सकता है, ऐसी पृच्छा का समाधान प्रसंगान्तर में किया जायगा । प्रस्तुत स्थल ईसापुर यूप-अभिलेख का प्रसंग दिया जा सकता है, जिससे यह सुव्यक्त हो जाता है कि आलोचित कालावधि का समाज ब्राह्म संस्कृति के प्रभाव से सर्वथा निर्मुक्त नहीं था । आलोचित अभिलेख मथुरा जिले में स्थित ईसापुर नामक गाँव से प्राप्त हुआ था । पंडित राधाकृष्ण, डी०आर०साहनी तथा फ्लीट जैसे विद्वानों के द्वारा इस अभिलेख की ऐतिहासिक व्याख्या की जा चुकी है।[26] प्रसंगत: इस अभिलेख में प्रयुक्त भाणछन्दोग शब्द को सन्दर्भित किया जा सकता है, जो ब्राह्मण द्रोणल नामक व्यक्ति के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है । इस शब्द की अभिव्यंजना अभी तक सुस्पष्ट नहीं हो सकी है । छन्दोग शब्द सामान्यत: एवं व्यक्तत: साम-वेद को अभिद्योतित करता है । किन्तु "भाण" शब्द से संज्ञापित सामवेद की शाखा रही हो, इसका निरूपण वैदिक वाङ्मय से सम्बन्धित शोध-सर्वेक्षण से अभी तक नहीं हो सका है ।

आलोचित अभिलेख कुषाण नरेश "राजातिराज वेदपुत्र षाहि वासिष्क के शासन-काल के वर्ष 24 को सन्दर्भित करता है । अभिलेखन-कर्ता को ब्राह्मण द्रोणल के नाम से सम्बोधित किया गया है, जिसने द्वादशरात्र नामक

यज्ञ सम्पन्न कर यूप (यज्ञीय स्तम्भ) की स्थापना किया था । इस अभिलेख की ऐतिहासिक उपादेयता के सन्दर्भ में डूबर्न इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आलोचित अभिलेखांकित पाषाणिक यूप वस्तुत: उस यूप का स्मारक प्रतिरूप है, जो अपने मूल रूप में लकड़ी का बना हुआ था।[27]

अपनी पाण्डित्य-पूर्ण समीक्षा में वी०एस० अग्रवालने इस अभिलेख से सम्बन्धित निम्नोक्त तथ्यों पर बल दिया है । अभिलेख ने बहुवचन में अग्नि शब्द का प्रयोग करते हुये, अग्नि-आहुति का संन्दर्भण किया है (प्रियतामग्नय:) । अन्य श्रौत यज्ञों की भाँति वैदिक परम्परा में द्वादशरात्र यज्ञ में भी गार्हपत्य, दक्षिणा एवं आहवनीय नामक तीन अग्नियों की आहुति का विधान किया गया है । अभिलेखांकित यूप की संरचना वैदिक ग्रन्थों के विधान के नितान्त सन्निकर्ष में हैं । यूप की पूरी लंबाई 19 फीट 7इंच है । आठ फीट सात इंच ऊँचाई तक इसकी वर्गाकृति है । इसके ऊपर का शेष भाग अष्टकोणाकार है । यूप के मध्यवर्ती भाग में त्रिगुणित बन्ध में "रशना" का प्रदर्शन है, जिसका अन्तिम छोर घुमावदार बना है । यूप के शिरोभाग के समीप धनाकृतिक प्रक्षेपण का प्रदर्शन किया गया है, जिसे श्रौत ग्रन्थों में चषाल की संज्ञा दी गई है । चषाल को कमल-माल्य की पच्चीकारी से अलंकृत किया गया है, जिसे "पुष्करस्रज" की संज्ञा दी जाती थी । पूरे यूप की संरचना-शैली में वैदिक ग्रन्थों में वर्णित विधानों का अनुकरण किया गया है।[28] इस सन्दर्भ में बी०एस० अग्रवाल यूप की कला-विषयक समीक्षा करते हुये इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अभिलेखांकित यूप, उसी यूप का

पाषाणिक प्रतिरूप है जो मूलतः काष्ठनिर्मित था, तथा जिसे अभिलेख में सन्दर्भित द्वादशरात्र यज्ञ में वैदिक विधान के साथ संस्थापित किया गया था।

उक्त अभिलेख के वर्णन की अभिव्यंजना एवं अभिलेखांकित पाषाणिक यूप के समवेत साक्ष्य के आलोक में ऐसा सुझाव रखना संगत प्रतीत होता है कि यद्यपि आलोचित कालावधि में अपेक्षाकृत बौद्ध धर्म उन्नमित स्तर पर था, तथापि अतीतकालीन वैदिक परम्परा के अवान्तरकालीन प्रतिनिधान का अग्रणी ब्राह्मण धर्म का गौरव धूमिल नहीं हुआ था। बौद्ध धर्म की भाँति इसके व्यापनशील प्रचार के प्रमाण भले ही न मिलें, किन्तु इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि समाज में इसकी मुखरता के सन्निरोधक तत्व प्रोत्साहन की स्थिति में नहीं थे।

आलोचित कालावधि के समाज पर स्मृति-परम्परा के प्रभाव-निर्वाह का मूल्यांकन: आभिलेखिक साक्ष्य के द्वारा समाज पर वैदिक परम्परा के अतिरिक्त स्मृति-परम्परा के प्रभाव-निर्वाह का मूल्यांकन किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में "कुषाणपुत्र षाहि वेम तक्षुम" को सन्दर्भित करने वाले मथुरा से उपलब्ध एक अभिलेख को विवेचन का विषय बनाया जा सकता है। इस अभिलेख में किसी बकनपति द्वारा एक मन्दिर के निर्माण की चर्चा मिलती है, जिसके समीप ही अनेक अतिरिक्त भवन एवं उद्यान का निर्मापन किया गया था। अभिलेख-चर्चित देवकुल शब्द के विषय में हरिपद चक्रवर्ती ने ऐसा सुझाव रखा है कि यह शब्द ब्राह्मण-धर्म से सम्बन्धित किसी देवता के मन्दिर

का द्योतक है । उक्त विद्वान ने अभिलेख-वर्णन के आधार पर ऐसा भी निष्कर्ष निकाला है कि अभिलेख-कर्ता ने तत्कालीन स्मृति-परम्परा की प्रेरणा में जनहित के लिये अपेक्षित इस धार्मिक कृत्य को सम्पन्न किया था।[29]

सम्भवत: चक्रवर्ती के उक्त सुझाव के सन्दर्भ में किसी विशेष पृच्छा के लिये अवकाश नहीं दिखाई देता, तथा इस अभिलेख का आलोचित कालावधि के लिये ऐतिहासिक महत्व भी निरापद है; तथापि कुछ-एक तथ्यों को विवेचन का विषय बनाना आवश्यक हो जाता है । एक तो यह कि अभिलेख में प्रयुक्त देवकुल शब्द ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित देवता का संज्ञापक है, अथवा नहीं -- यह विवेचन का एक विचारणीय पहलू है । उल्लेखनीय है कि आलोचित अभिलेख, लगभग समान विवरण को अंकित करने वाले दो अन्य अभिलेखों के साथ मथुरा में स्थित टोकरी टीला से उपलब्ध हुआ था । तीनों अभिलेख तीन पाषाण-निर्मित शासकीय प्रतिमाओं के अधोभाग में उट्टंकित हुये हैं । फोगेल, फ्लीट, स्टेन कोनो तथा के०पी० जायसवाल जैसे विद्वानों ने यही सुझाव रखा है कि सम्बन्धित प्रतिमाएँ कुषाण-शासकों की हैं, जिन्हें अभिलेखोक्त देवकुल में प्रतिष्ठापित किया गया था।[30] किन्तु इन्हीं अभिलेखों में प्रयुक्त "कुषाणपुत्र" शब्द के तात्पर्य के विषय में मतैक्य नहीं है । जायसवाल की समीक्षा के अनुसार इसका अर्थ है, कुषाण का पुत्र । प्रस्तुत विद्वान का यह भी मानना है कि "कुषाण" व्यक्ति-वाचक शब्द है।[31] फ्लीट[32] एवं कोनो[33] के मतानुसार इस शब्द को "कुषाणों के वंशज" के अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है । लूडर्स के आलोचित

शब्द को "कुषाण" शब्द का ही पर्यायवाची माना है, तथा इस ब्राह्मी अभिलेख के "कुषाण" शब्द को खरोष्ठी अभिलेखों में प्रयुक्त "गुषाण" शब्द के पर्यायवाची के रूप में ग्रहण किया है।[34] साक्ष्यों की अल्पसंख्यता के कारण स्थिति की वास्तविकता के विषय में अन्तिम रूप में कुछ कहा नहीं जा सकता, तथापि जायसवाल का सुझाव सम्भवत: वस्तुस्थिति के निकट है। प्रस्तुत विद्वान् ने "कुषाणपुत्र" शब्द द्वारा विशेषित वेमतक्षुम को दो भागों में बाँटा है, "वेम" एवं "तक्षुम" तथा सम्भावित नरेश की पहचान उस कुषाण नरेश से किया है, जिसे मुद्रालेखों में उन काडफिसीज़ एवं खरोष्ठी अभिलेखों में विमकाडफिसीज़ कहा गया है।[35]

आलोचित अभिलेख में सन्दर्भित "बकनपति" शब्द को भी विमर्श का विषय बनाया गया है। मथुरा से उपलब्ध हुविष्क के वर्ष 28 को प्रसंगित करने वाले प्रस्तर अभिलेख में "बकनपति" के लिये "वकनपति" शब्दान्तर प्राप्त होता है।[36] अपनी रचना "सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस," खण्ड 1 के प्रथम संस्करण (कलकत्ता, 1942) में प्रस्तुत विद्वान् ने वकन का समीकरण मध्य एशिया में स्थित वेखन से करते हुये इसका अर्थ स्थानबोधक शब्द के रूप में ग्रहण किया है। किन्तु इसी ग्रन्थ के दूसरे संस्करण (कलकत्ता, 1965) में सरकार ने सम्भवत: एच0डब्लू0 बेली की व्याख्या को स्वीकार किया है, जिन्होंने आलोचित शब्द की ईरानी उत्पत्ति मानते हुए इसे देवालय के राजनियुक्त पर्यवेक्षक के अर्थ में ग्रहण किया है।[37] आलोचित शब्द की ईरानी उत्पत्ति मानते हुये लूडर्स ने इस शब्द का प्राय: समस्तरीय अर्थ माना है। किन्तु, इन्होंने इस बात को स्वीकार किया है कि आलोचित शब्द को अर्थान्तर में ग्रहण करने की

सम्भावना के प्रति सन्देह नहीं किया जा सकता है।[38] बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ दिव्यावदान के ऐतिहासिक महत्त्व को यदि संशय-विहीन मान लिया जाय, तो इस ग्रन्थ के "वोक्काण" शब्द के सन्दर्भण[39] के आलोक में आलोचित शब्द को स्थान-वाचक मानने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है।

उक्त अभिलेखों में प्रयुक्त वकनपति अथवा बकनपति के आधार पर एच०पी० चक्रवर्ती ने ऐसा सुझाव रखा है कि इससे यह व्यक्त हो जाता है कि कुषाण-साम्राज्य का यातायात सम्बन्ध सुदूर उत्तर में बल्ख एवं खोतान तक फैला हुआ था।[40] चक्रवर्ती का यह सुझाव तर्कपूर्ण प्रतीत होता है; किन्तु इनके ऐसे सुझाव में कोई संगति नहीं दिखाई देती है कि उक्त अभिलेख आलोचित कालावधि में समाज में ब्राह्मणों के वर्चस्व को अभिद्योतित करते हैं। यदि चक्रवर्ती द्वारा सुझाये गये उक्त शब्द के अर्थ को मान भी लिया जाय, तो अधिक -से-अधिक यही कहा जा सकता है कि यद्यपि आलोचित कालावधि का भारतीय समाज अतीतकालीन संरचना से हटकर वैदेशिक प्रवृत्तियों के दुष्प्रवेश के कारण विसन्तुलन का विषय बन रहा था, तथापि वैदिक एवं स्मार्त्त परम्परा सम्प्राण एवं जीवन्त स्थिति में विद्यमान थी।

प्रस्तुत प्रसंग में उक्त अनुच्छेदों में आलोचित अंगविज्जा के साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन आवश्यक हो जाता है। यह विचारणीय प्रश्न बन बैठता है कि यदि अंगविज्जा के साक्ष्य से अज्ज (आर्य) पेस्स[41] (प्रेष्य) अर्थात् आधिकारिक एवं अधीनस्थ- दो ही वर्गों के अस्तित्व का संज्ञापन होता है, तो ऐसी स्थिति

में उक्त अभिलेखिक अभिव्यंजना का तालमेल प्रस्तुत साहित्यिक साक्ष्य के साथ कैसे बैठाया जा सकता है । इस सन्दर्भ में मात्र यही कहा जा सकता है कि आलोचित कालावधि के किसी सर्वेक्षण-सापेक्ष स्तर पर साम्प्रदायिक आग्रह को स्पर्श करने वाली उक्त दोनों वर्गों के सामाजिक अस्तित्व की मान्यता मिल चुकी थी, किन्तु परम्परा-प्रवाह का मूल स्रोत इतना सुदृढ था कि समाजिक कलेवर का सर्वांग इससे पूर्णतया प्रभावित नहीं था, जिसके संज्ञापक अभिलेखिक साक्ष्य मथुरा एवं कौशाम्बी के समुत्खनन एवं सर्वेक्षण शोधों से उपलब्ध हुये हैं ।

ब्राह्म एवं ब्राह्मेतर परम्परा के सह-अस्तित्व के आभिलेखिक साक्ष्य

मथुरा एवं कौशाम्बी, दोनों ही स्थानों से मिले हुये अभिलेख ऐसी सम्भावना को संशय-विहीन कर देते हैं कि आलोचित कालावधि में ब्राह्म एवं ब्राह्मेतर परम्पराओं की सहभाविता एवं सह-अस्तित्व सम्बाधित नहीं हुआ था । इस सन्दर्भ में सबसे पहले उस विशेष अभिलेख को विमर्श का विषय बनाया जा सकता है, जो ए० फूहरर को मथुरा में स्थित कंकाली टीला से प्राप्त हुआ था, तथा जिसे जार्ज बूलरनेसम्पादित करते हुये पुरालिपि-समीक्षा के आधार पर कुषाण काल में रखा था[42] अभिलेख में तिथि अथवा किसी शासक के नाम का अंकन नहीं हुआ है । अपनी समीक्षा में बूलर ने अभिलेख में प्रयुक्त अक्षर "य" की आकृति को समीक्षित नहीं किया है, जिसका निदर्शन यह प्राय: निश्चित कर देता है कि आलोचित अभिलेख कुषाण-काल के अन्तिम स्तर पर रखा जा

सकता है, जब कि राजनीतिक इतिहास के सन्दर्भ में उत्तर भारत के शासन-परिवेश में अभी कुषाणों का पूर्ण पतन नहीं हुआ था, तथा गुप्तों की सत्ता का सन्निकर्ष सम्भावित बन रहा था। सम्भवत: आलोचित अक्षर के निम्नोक्त निदर्शन उक्त सम्भावना को साकार बना सकते हैं :

(1) पूर्वकालीन कुषाण ब्राह्मी "य": ꓛꓷ -दोनों पार्श्व भाग घुमावदार बनाये गये हैं।

(2) उत्तरकालीन कुषाण ब्राह्मी "य": ꓛꓷ-बाईं घुमावदार रेखा अन्तर्मुखी बनती है।

(3) गुप्तकालीन ब्राह्मी "य": ꓛꓷ- बाईं घुमावदार रेखा बन्द होकर आधारभूत रेखा के साथ मिल जाती है।

आलोचित अभिलेख में "य" की आकृति उक्त निदर्शनों में क्रमांक 2 पर प्रदर्शित की गई है। अतएव बूलर का यह सुझाव संशयशील नहीं माना जा सकता कि आलोचित अभिलेख कुषाण शासन-सत्ता के अन्तिम स्तर से सम्बन्धित है।

~~अभिलेख~~ इसमें सन्देह नहीं कि आलोचित अभिलेख ब्राह्मेतर (जैन) परम्परा से सम्बन्धित है, तथा इसके अभिलेखन का उद्देश्य वर्द्धमान की प्रतिमा की प्रतिष्ठापना है। अतएव, आपाततः इसे ब्राह्म परम्परा से असम्पृक्त ही माना जा सकता है। किन्तु इसमें अभिलिखित आचार्य एवं शिष्य के नामों से सम्बन्धित ऐतिहासिक अभिव्यंजना को विचार का विषय बनाया जा सकता है। विचारणीय नाम निम्नोक्त है: आर्य ब्रह्म[43] (देव), शिवसेन,[44] देवसेन[45] एवं शिवदेव। इनमें पहला आचार्य का नाम है। शेष तीन शिष्यों

के नाम हैं । ये सभी नाम ब्राह्म परम्परा से सम्बन्धित हैं अतएव यह निष्कर्ष निकालने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है कि यद्यपि आपाततः इस अभिलेख को जैन धर्म के प्रचलन एवं तद् युगीन लोकप्रियता का प्रमाण माना जा सकता है, तथापि तत्वतः ब्राह्म धर्म का अतीतकालीन गौरव विलुप्त नहीं हुआ था, तथा धर्मान्तर में दीक्षित होने के उपरान्त भी धर्मान्तरित व्यक्ति ब्राह्म धर्म से अपना मौलिक सम्बन्ध दिखाने में गौरव का अनुभव करते थे ।

उल्लेखनीय है कि उक्त आशय का द्योतक आलोचित अभिलेख ऐकान्तिक साक्ष्य नहीं है । मथुरा के कंकाली टीला से दो अन्य समकालीन एवं समस्तरीय अभिलेखों का प्रमाण दिया जा सकता है, जिनमें क्रमशः शिवघोषक[46] एवं शिवदत्त जैसे उन व्यक्तियों के नाम मिलते हैं, जिन्होंने वर्द्धमान की प्रतिमाओं को प्रतिष्ठापित किया था । ये दोनों अभिलेख भी आलोचित कालावधि में ब्राह्म धर्म के अतीतकालीन गौरव की संचरणशीलता का परिचय प्रस्तुत करते हैं ।

मथुरा की भाँति ही कौशाम्बी के कुछ-एक अभिलेखों द्वारा भी आलोचित कालावधि के उत्तरकालीन कुषाण स्तर पर बौद्ध ब्राह्मेतर और ब्राह्म परम्परा के सह-अस्तित्व की सम्भावना का मूल्यांकन किया जा सकता है । कौशाम्बी के तत्कालीन अधिकांश अभिलेख घोषिताराम नामक बौद्ध विहार से प्राप्त हुये हैं- समुत्खनन एवं सर्वेक्षण, दोनों प्रकार के शोधों से । एक अभिलेख मघ नरेश भीमवर्मन के शासन-काल (संवत् 122-200 ईस्वी) को सन्दर्भित करते हुये बौद्ध विहार पावरियाराम को संज्ञापित करता है ।

यह अभिलेख सर्वेक्षण (धरातल) से मिला था[48]। प्रस्तुत विहार को वर्चित करने वाला यह मात्र एक अभिलेख है। पालि-साहित्य में उल्लिखित कौशाम्बी का तीसरा बौद्ध विहार कुक्कुटाराम था, जिसे सत्यापित करने वाला अभी तक कोई आभिलेखिक साक्ष्य नहीं मिला है। कौशाम्बी के उक्त बौद्ध विहारों के अभिलेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोचित कालावधि में यहाँ बौद्ध धर्म व्यापनशील स्थिति में था। इसके अतिरिक्त इनमें अधिकांशतः शकों के नाम मिलते हैं। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध धर्म का परिसर व्यापक बन रहा था, तथा इसमें विदेशी जातियाँ भी अन्तर्भूत हो रही थीं। किन्तु इसके आधार पर यह सहसा नहीं कहा जा सकता है कि ब्राह्मेतर परम्परा के साक्ष्यों की ऐसी स्थिति ब्राह्म धर्म के तत्कालीन तिरोभाव की प्रमापक बन बैठती है। सच तो यह है कि कौशाम्बी के शोध-विषयक पुरातात्त्विक प्रयास किये गये हैं, उनमें उत्खनन-विषयक शैर्षिक योजना अपनाई गई है। उत्खनन-कुशल पुरातत्त्वशास्त्रियों ने उत्खनन की क्षैतिज पद्धति को नहीं अपनाया है। फलतः वे पुरातात्त्विक साक्ष्य अभी तक समुद्घाटित नहीं हुये हैं, जो सांस्कृतिक अनुशीलन के लिये सर्वांग-सापेक्ष रूप-रेखा प्रस्तुत करते हैं। इसके अतिरिक्त धरातल से उपलब्ध जिन पुरालेखों को प्रकाशित किया गया है, उनके विवरणों का तत्वेक्षण कर सर्वांगीण स्वरूपांकन नहीं किया गया है। प्रस्तुत प्रसंग में दूसरी कोटि से सम्बन्धित दो अभिलेखों को विवेचन का विषय बनाया जा सकता है। इनमें पहला अभिलेख मघ शासक शिवमघ को सन्दर्भित करता है। अभिलेख में शंकरबल एवं नन्दिबल नामों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है

कि यह शैव धर्म से सम्बन्धित अभिलेख है, तथा इसकी प्रतिष्ठापना के स्थल बौद्ध विहार नहीं माने जा सकते हैं।[49] प्रस्तुत सुझाव के समर्थन में यहाँ इंगित किया जा सकता है कि आलोचित कालावधि से सम्बन्धित जितने बौद्ध अथवा जैन अभिलेख मिले हैं, उनकी भाषा या तो प्राकृत अथवा संस्कृतनिष्ठ प्राकृत है। आलोचित अभिलेख की भाषा संस्कृत है, जो ब्राह्मण परम्परा की भाषा थी। अतएव यह एक अतिरिक्त साक्ष्य मिल जाता है, जिसके आधार पर यह प्रायः सिद्ध हो जाता है कि आलोचित अभिलेख ब्राह्मण परम्परा की संज्ञापना करता है। दूसरे अभिलेख में मघशासक भद्रमघ (संवत् 88-166 ईस्वी) सन्दर्भित है।[50] इस अभिलेख की समीक्षा करते हुये डी0आर0साहनी ने दो विशेष तथ्यों पर बल दिया है। एक तो यह कि इस अभिलेख में ऐसी सम्भावना के संज्ञापनार्थ लेशमात्र संकेत नहीं मिलता कि यह बौद्ध अभिलेख है, अथवा इसकी प्रतिष्ठापना के सन्निवेशन कौशाम्बी के बौद्ध विहार रहे होंगे। दूसरे, इस अभिलेख की भाषा शुद्ध संस्कृत है।[51] इस सन्दर्भ में एच0 के0 शास्त्री ने हमारा ध्यान प्रस्तुत अभिलेख में प्रयुक्त "अययादवदार" शब्द की ओर आकर्षित किया है, जो शुद्ध प्राकृत भाषा का शब्द है, तथा जिसका संस्कृत रूपान्तर शब्द "अयियादवदारः" है।[52] सम्भवतः आलोचित अभिलेख का मूल्यांकन, निम्नोक्त अवधारणाओं के सन्दर्भ में, वस्तुस्थिति का निदर्शक बन सकता है, (1) "प्रधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति" (काव्यप्रकाश) के अनुसार, केवल एक (प्राकृत) शब्द को छोड़कर शेष अभिलेख में संस्कृत के व्यवहार के कारण अभिलेख की भाषा संस्कृत ही मानी जा सकती है। (2) गुप्तकालीन

अभिलेखों का निदर्शन दिया जा सकता है, जिनकी भाषा संस्कृत मानी जाती है। किन्तु कुमारगुप्तकालीन मानकुँअर के अभिलेख में ओम् नमो बुद्धाय: (संस्कृत) के स्थान ओम् नमो बुधान् (प्राकृत) पाठ मिलता है, जब कि बुधान् शब्द को छोड़कर शेष अभिलेख शुद्ध संस्कृत में अंकित हैं। अतएव आलोचित मथकालीन अभिलेख की भाषा को संस्कृत घोषित करने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती है। संस्कृत भाषा के प्रयोग के कारण ही इसमें संयुक्ताक्षर "ङ्" (ḥ) का व्यवहार मिलता है, जिसके प्रयोग के प्रमाण प्राकृत अभिलेखों में नहीं मिलते हैं। (3) उक्त विशेषताओं के सन्दर्भ में, आलोचित अभिलेख को तत्कालीन सामाजिक परिवेश में ब्राह्मेतर परम्परा के साथ-साथ ब्राह्म परम्परा की संचरणशीलता का प्रमापक मानने में विसंगति नहीं दिखाई देती है।

इसी प्रसंग में मथुरा से उपलब्ध आलोचित कालावधि से ही सम्बन्धित ऐसे अभिलेख को उद्धृत किया जा सकता है, जिसका परम्परा-ज्ञापक अभिज्ञान वैदुष्यशोध-मंजूषा में सुनिश्चित नहीं मिलता है। फूहरर के सर्वेक्षण-प्रयास से उपलब्ध इस अभिलेख को बूलर ने प्रकाशित किया था।[53] फूहरर के प्रतिवेदन के अनुसार यह अभिलेख दो जैन मन्दिरों के समीप स्थित एक इष्टका-स्तूप के अवशेषों में पड़ा हुआ था। इनका यह भी सुझाव है कि यह अभिलेख किसी अन्य अज्ञात मन्दिर से सम्बन्धित प्रतीत होता है। अभिलेख में ऐसे "शिलापट्ट" का विवरण है, जिसे "भगवान् नागेन्द्र दधिकर्ण के (पवित्र) स्थान" पर प्रतिष्ठापित किया गया था।[54] लूडर्स ने ऐसी सम्भावना प्रस्तावित किया है कि इस अभिलेख में वर्णित स्थान नागेन्द्र दधिकर्ण के लिये, उस

हुविष्क-विहार के निर्माण के पहले भी पवित्र माना जाता होगा, जिसका उल्लेख आलोचित अभिलेख में हुआ है।[55] इन पूर्वसूरियों के शोध-कार्य के काल में, यह निश्चित करना एक समस्या बन बैठी थी, कि यह अभिलेख ब्राह्मण (ब्राह्म) परम्परा अथवा बौद्ध (ब्राह्मेतर) परम्परा का संज्ञापक है। हुविष्क-विहार के सन्दर्भण के कारण इसे कुछ-एक ने बौद्ध परम्परा से सम्बन्धित माना, तथा गृह्य-सूत्रों एवं पौराणिक साक्ष्यों के नाग-पूजा के विशेष उल्लेख के कारण कुछ-एक ने इसे बौद्ध परम्परा से सम्बन्धित करने का प्रयास किया।[56]

स्थिति की वास्तविकता के निदर्शनार्थ निम्नोक्त ब्राह्म एवं ब्राह्मेतर साक्ष्यों का समीक्षीकरण किया जा सकता है। ब्राह्म साक्ष्य हरिवंश के स्थलों से सम्बन्धित है, जिनमें "आह्निक" मंत्रों द्वारा अर्चनीय नागेन्द्र दधिकर्ण का निबन्धन हुआ है; तथा ऐसा भी कहा गया है कि इन मन्त्रों से बलदेव एवं श्रीकृष्ण प्रतिदिन दधिकर्ण की उपासना करते थे।[57] इस साक्ष्य से यही प्रतीत होता है कि यह अभिलेख भागवत धर्म का संज्ञापक है। ब्राह्मेतर साक्ष्य के सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि नागों का सन्दर्भण बौद्ध आख्यानों में अनेकशः समुपलब्ध होता है, तथा सम्बोधि-वृक्षों के उपासकों के रूप में इनका अंकन बौद्ध स्तूपों पर भी अनेकधा उपलब्ध होता है। इन साक्ष्यों के आलोक में ऐसी मान्यता में कोई संगति नहीं दिखाई देती है कि ऐसी परम्परा को भागवत धर्म से बौद्धों ने, अथवा बौद्धधर्म से भागवतों ने उधार लिया था। इसके विपरीत, साहित्यिक उल्लेखों द्वारा समीक्षित आलोचित अभिलेख को ब्राह्म एवं ब्राह्मेतर परम्पराओं की संगत वारिधारा अथवा दोनों के सम्मिश्रण

अथवा पारस्परिक संवेदनशीलता का अभिज्ञापक माना जाय तो सम्भवत: आलोचित अभिलेख के व्यज्यमान तात्पर्य का परीक्षण हो जाता है ।

आलोचित कालावधि से सम्बन्धित अभिलेख: क्षत्रियवर्ण का सन्दर्भण एवं सामाजिक स्थिति ।

इन अभिलेखों का जिन विद्वानों ने समाज के सन्दर्भ में मूल्यांकन किया है, उनकी समीक्षा के अनुसार इनमें क्षत्रिय वर्ण का प्रसंग नहीं मिलता है । दूसरी ओर यह स्थिति है कि साहित्यिक साक्ष्यों में मिलिन्दपन्ह को उद्धृत करते हुये, पुरी महोदय ने इस ग्रन्थ के उन स्थलों की समीक्षा किया है जो चतुर्वर्ण्य-व्यवस्था को सन्दर्भित करते हुये ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्रों के साथ-साथ क्षत्रियों का स्पष्ट उल्लेख करते हैं।[58] उक्त स्थलों की समीक्षा अधिक विस्तारसेकरते हुये शिवेश चन्द्र भट्टाचार्य ने सुझाव रखा है कि इनमें क्षत्रियों के उल्लेख के अतिरिक्त, इनकी आचार-संहिता भी सन्दर्भित हुई है।[59] किन्तु प्रश्न यह है कि पुरातात्त्विक अथवा अधिक सही शब्दोंमेंपुराभिलेखिक साक्ष्यों की क्या स्थिति है; जिनके मूल्यांकन के बिना साहित्यिक साक्ष्यों की अभिव्यंजना प्राय: असत्यापित बनी रहती है ।

उक्त समस्या के सुलझाने का आंशिक प्रयास, बूलर ने मथुरा से उपलब्ध एक महत्वपूर्ण अभिलेख के सन्दर्भ में किया है । अभिलेख में प्रयुक्त "नमो अरहंतानं," अरहंतपुजाये," एवं "आयागपटो प्रतिथापितो" जैसे शब्द यह सुस्पष्ट कर देते हैं कि अभिलेखांकन कराने वाला (आयागपट्ट का) दानकर्त्ता व्यक्ति जैन मतावलंबी था । "सिहकस वानिकस पुत्रेण कोशिकिपुत्रेण सिहनादिकेन"शब्दों के आधार पर बूलर ने निष्कर्ष निकाला है कि वनिक शब्द को वानिजक अथवा वानियक शब्द का अपभ्रंशित रूपान्तर अथवा भ्रष्ट उट्टंकन
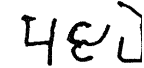
माना जा सकता है; तथा चूँकि सिंहनादिक का विशेषक शब्द कौशिकिपुत्र है, अतएव उसे (अर्थात् आर्यभट्ट के दानकर्ता सिंहनादिक को) वणिक न मानकर क्षत्रिय मानना उचित प्रतीत होता है।[60]

सम्भवत: बूँलर की उक्त समीक्षा वस्तुस्थिति को केवल स्पर्श करती है, सुस्पष्ट नहीं कर पाती। कोशिकि पुत्र (कौशिकीपुत्र) जैसा विशेषक शब्द दानकर्ता के मूलतया क्षत्रिय होने, तथा पुन: जैन धर्म में दीक्षान्तरित होने की सम्भावना का संज्ञापक अवश्य माना जा सकता है। किन्तु ऐसी सम्भावना को मानने के साथ-साथ यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि सिंहक (सिंहक), जो दानकर्ता सिंहनादिक (सिंहनादिक) का पिता था; मूलत: क्षत्रिय था, तथा जैन धर्म स्वीकार करने के साथ-साथ वणिक्-वृत्ति अपना लिया था।

बूँलर महोदय ने आलोचित अभिलेख को मथुरा से उपलब्ध उन अन्य बारह अभिलेखों के साथ अपने समीक्षा-क्रम में सम्मिलित किया है, जो तिथि-रहित हैं, तथा जिनमें किसी शासक का भी सन्दर्भ नहीं मिलता। बिना किसी साक्ष्य-सन्दर्भित अवधारणा को प्रस्तुत किये बूँलर ने इन समस्त अभिलेखों को कुषाणकालीन माना है; यद्यपि बूँलर जैसे पुरालिपि-पण्डित से इस सन्दर्भ में कम-से-कम अक्षर-निदर्शन के आधार पर समय-निर्धारण की ~~अपेक्षा~~ अपेक्षा की जा सकती थी। सम्भवत: आलोचित अभिलेख, अर्थात् बूँलर की सूची-क्रम का तीसवाँ तथा इसी के साथ इसी सूची-क्रम का इकत्तीसवाँ अभिलेख अक्षर-निदर्शन की दृष्टि से प्राक् कुषाण कालीन प्रतीत होते हैं; तथा सम्भवत: इन

दोनों ही अभिलेखों की लिपि का समय ब्राह्मी लिपि का उत्तर क्षत्रप-कालीन स्तर अर्थात् प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व माना जा सकता है । इनके अक्षरों के आकार बूलर की उक्त सूची के अन्य अभिलेखों से भिन्न है । उदाहरण के लिये, इनमें दन्त्य "स" एवं तालव्य "श" का निदर्शन दिया जा सकता, विशेषतया इन्हीं अक्षरों के उन निदर्शनों के साथ जो बूलर की उक्त सूची के तैंतीसवें और चौंतीसवें अभिलेखों में उपलब्ध होते हैं ।

	"स"	"श"	
अभिलेख संख्या, 31,32	[illegible]	[illegible]	ये आकृतियाँ प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के अभिलेखों में मिलती है ।
अभिलेख संख्या, 33, 34	[illegible]	[illegible]	ये आकृतियाँ द्वितीय-तृतीय शताब्दी ईसवी के (अर्थात कुषाण कालीन) अभिलेखों में मिलती हैं।

अभिलेख-संख्या 31 एवं 32 में प्रयुक्त "पुजार्ये" शब्द की आकृति [illegible] विशेषतया उल्लेखनीय है, जो प्रथम शताब्दी ईसापूर्व से सम्बन्धित मथुरा के जैन एवं बौद्ध अभिलेखों में ठीक इसी शैली में अनेकशः प्राप्त होता है, तथा आलोचित शब्द की यही आकृति कौशाम्बी के घोषितārāम विहार से उपलब्ध बौद्ध आयगमट्ट अभिलेख में मिलती है ।

उक्त पुरालिपि-विषयक अवधारणा के आलोक में यह कह सकते हैं कि, यद्यपि इस प्रसंग में वर्चित मुख्य अभिलेख के क्षत्रिय सन्दर्भण की सम्भावना को स्वीकार किया जा सकता है, तथापि यह अभिलेख आलोचित कालावधि के

प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के सामाजिक तत्वों के अध्ययनार्थ उपयोगी, तथा इसे कुषाणकालीन स्तर पर रखने में कठिनाई प्रतीत होती है ।

आलोचित कालावधि में वैश्य:सम्बन्धित मथुरा एवं कौशाम्बी के अभिलेखों का मूल्यांकन:

आलोचित कालावधि के अभिलेखों (यद्यपि अधिकांशत: साहित्यिक साक्ष्यों) के आलोक में विद्वानों का ऐसा निष्कर्ष रहा है कि; तद्युगीन सामाजिक परिवेश वैश्यों का स्तर परम्परा सम्मत स्थिति की अपेक्षा अधिक उन्नमित हो चुका था, तथा उनके आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकार अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत हो चुके थे, जिसका कारण उनकी समृद्धिशालीनता मानी जा सकती है । उनकी उन्नमित स्थिति की निर्धारणा में वर्ण-विषयक प्रवृत्तियों की अपेक्षा अर्थ-विषयक प्रवृत्तियाँ अधिक प्रखर एवं गतिशील थीं[61]। इस सन्दर्भ में वैश्य के द्योतक सार्थवाह, श्रेष्ठी, व्यवहारी, समुद्र-व्यवहारी, वणिक् आदि अनेक शब्दों को ऐतिहासिक समीक्षा का विषय बनाया गया है, तथा इनसे सम्बन्धित अभिलेखों के निश्चयार्थ अनेक सुझाव भी व्यक्त किये गये हैं ।

आलोचित शोध-प्रबन्ध की आयाम-सीमा तथा ऐतिहासिक मूल्यांकन के लिये शब्द की व्याख्या-परक महत्ता को दृष्टि में रखते हुये, "वणिक" शब्द को सन्दर्भित करने वाले दो अभिलेखों की व्याख्या की जा सकती है । ये दोनों ही अभिलेख आलोचित कालावधि के अतिरिक्त अभिलेख-प्राप्ति के आलोचित केन्द्रों (मथुरा एवं कौशाम्बी) से सम्बन्धित भी है । इनमें पहला
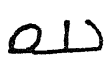
अभिलेख मथुरा के प्रख्यात पुरातत्व-केन्द्र कंकालीटीला से फूहरर को प्राप्त हुआ था, जिसे अपनी पाण्डित्य-पूर्ण टिप्पणियों के साथ बूलर ने प्रकाशित किया था।[62] अक्षर-समीक्षा के आधार पर बूलर ने इसे प्रथम शताब्दी ईस्वी में रखा था, यद्यपि इसका समय प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व मानने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है। आलोचित अभिलेख किसी लोहवाणिय (लोह वणिक) को सन्दर्भित करता है। आधुनिक गवेषणा-तात्विकों में बी०एन० मुखर्जी,[63] बी०एन० पुरी[64] एवं शिखा भट्टाचार्य[65] के नाम उल्लेखनीय हैं; जिन्होंने अभिलेखोक्त वणिक शब्द को गवेषणा का विषय बनाया है। भ्रम-वश मुखर्जी ने इस अभिलेख को कुषाणकालीन माना है, जब कि इनकी वणिक् शब्द की व्याख्या महत्वपूर्ण है। मोनियर विलियम के संस्कृत शब्द-कोश के आधार पर, इन्होंने वणिक् शब्द का अर्थ Stationary merchant अर्थात् अप्रगामी व्यापारी माना है। इसी अर्थ को पुरी ने भी मान्यता प्रदान की है। ऐसी व्याख्या को भट्टाचार्य महोदय ने निराकृत करने का प्रयास किया है, तथा अपने मत के पोषणार्थ इन्होंने अंगविज्जा एवं अवदानशतक के साक्ष्यों को प्रस्तावित किया है, जिनमें फलवनिया एवं मूलवनिया जैसे प्रव्रजनशील (mobile) व्यापारियों के संज्ञापक शब्द प्रसंगित हुये हैं। यदि भट्टाचार्य का तात्पर्य फेरी वाले फलविक्रेता और मूलविक्रेता से है, तो ऐसी स्थिति में वणिक् शब्द का अर्थ प्रगामी व्यापारी का सम्बोधनार्थ नहीं माना जा सकता है। किन्तु प्रश्न यह है कि ऐसे तात्पर्य के समर्थनार्थ अभिलेखिक साक्ष्य मिलता है अथवा नहीं? इस प्रश्न का उत्तर कौशाम्बी से उपलब्ध पावरियाराम विहार को सन्दर्भित करने वाले मघनरेश भीमवर्मन के संवत् 122 (200 ईसवी) के अभिलेख

में ढूँढा जा सकता है । जैसा कि पूर्वगामी अनुच्छेदों में विमर्शित किया जा चुका है, यह अभिलेख धरातल से प्राप्त हुआ था।[66] आलोचित अभिलेख में भगवान बुद्ध की श्रद्धा में उक्त बौद्ध विहार में छत्रयष्टि के दानकर्ता जयिक नामक व्यक्ति का उल्लेख आया है, जिसे वणिक् की संज्ञा दी गई है । इसी वणिक् का उल्लेख आधुनिक मध्यप्रदेश में बन्धोगढ़ के एक मघ-अभिलेख में मिलता है तथा इसी स्थान से उपलब्ध संवत् 88 को सन्दर्भित करने वाले मघनरेश पौष्ठश्री के अभिलेख में मथुरा से आने वाले व्यापारियों का उल्लेख हुआ है, जिन्हें वणिक् की संज्ञा प्रदान की गई है।[67] अतएव, निष्कर्ष यही निकलता है कि आलोचित कालावधि के अभिलेखों में प्रसंगित सार्थवाह की भाँति वणिक् भी प्रव्रजनशील व्यापारी के रूप में ग्रहण किया जा सकता है । सार्थवाह शब्द से कारवाँ बनाकर चलने वाले बनियों के नेता का अभिद्योतन होता है, जबकि वणिक् केवल बनियाँ अथवा व्यापारी का द्योतक है ।

सामाजार्थिक गठन के अध्येता एवं अनुसन्धाता आधुनिक विद्वानों ने वैश्यों की, आलोचित कालावधि के विशेष सन्दर्भ में, एक महत्वपूर्ण पृच्छा प्रस्तावित किया है कि शिल्पी का व्यवसाय वैश्यों द्वारा अपनाया जा सकता था अथवा यह व्यवसाय केवल शूद्रों के लिये ही विहित था । आर०एस० शर्मा[67अ] एवं आर०पी० कांगले[68] ने उक्त दोनों में दूसरे विकल्प की सम्भावना पर बल दिया है । दूसरी ओर, शिवेश भट्टाचार्य ने सम्भावना प्रस्तावित किया है कि वैश्य समुदाय के कतिपय सदस्यों द्वारा शिल्पियों के व्यवसाय के अनुसरण किये जाने के प्रमाण मिल जाते हैं।[69]

आलोचित शोध-प्रबन्ध में उक्त ऐतिहासिक समस्या के समाधान के लिये इस कालावधि से सम्बन्धित मथुरा के दो महत्वपूर्ण अभिलेखों का उल्लेख किया जा सकता है । इनमें पहला अभिलेख जैन प्रतिमा पर उट्टंकित है, जिसव खण्डित तिथि के लिये बूलर ने संवत 23 अर्थात् 98ईस्वी) आनुमानित पाठ प्रस्तावित किया है[70]। किन्तु अभिलेख के लिपि-विषयक गठन की समीक्षा बूलर की अनुमानित तिथि के विरोध में जाती है । इसके निन्मदर्शनार्थ अभिलेख में प्रयुक्त "य" की आकृति उल्लेखनीय है । संयुक्ताक्षर "स्य" (मानिकारस्य शब्द में) के प्रदर्शनार्थ "य" की आकृति को प्रयोग में लाया गया है: । इसी अभिलेख में "य" का स्वतंत्र आकार वर्तुल है, जिसका पार्श्ववर्ती बायाँ भाग पूर्ण ग्रन्थि का रूप धारण करता है : । ये दोनों उत्तरी ब्राह्मी के द्वितीय शताब्दी ईस्वी के उत्तरार्द्ध, अथवा तृतीय शताब्दी ईस्वी के पूर्वार्द्ध के अभिलेखों में मिलते हैं । बूलर की अनुमानित तिथि 98 ईस्वी, अर्थात् प्रथम शताब्दी ईस्वी के उत्तरार्द्ध (तथा इसी शताब्दी के पूर्वार्द्ध) में "य" का स्वतंत्र आकार दोनों ही पार्श्ववर्ती भागों में खुला रहता था: , तथा संयुक्ताक्षर में पूरे आकार को प्रदर्शित किया जाता था : । अर्थात् आलोचित अभिलेख का समय ब्राह्मी के पूर्वकुषाण-कालीन स्तर से सम्बन्धित किया जा सकता है । दूसरे शब्दों में इस अभिलेख की ऐतिहासिक अभिव्यंजना आलोचित कालावधि के उत्तरकुषाण-कालीन स्तर को प्रकाशित करती है । अभिलेख में किसी मित्रा (मित्रा) द्वारा दिये गये दान को सन्दर्भित किया गया है, जिसे मणिकार जयभिट्ट की पुत्री एवं लौहवणिक् वाधर की पुत्रवधू

घोषित किया गया है । पूर्व अनुच्छेदों के प्रसंगान्तर में अभिलेखोक्ति के लोह वणिक् शब्द का विवेचन किया जा चुका है । प्रस्तुत विवेचन के सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि इस अभिलेख से वणिक् एवं मणिकार के सामाजिक एवं व्यावसायिक समीकरण की सूचना मिलती है । अर्थात् दूसरे शब्दों में वैश्य समुदाय के सदस्य शिल्पी-वर्ग की जीविका अपना सकते थे । दूसरा अभिलेख लखनऊ संग्रहालय के जैन प्रभाग में सुरक्षित है, जिसे सर्वप्रथम आर०डी० बनर्जी ने सन्निरूपण एवं विवेचन का विषय बनाया था।[71] बनर्जी के अनुसार इस अभिलेख के प्राप्ति-स्थान के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि संग्रहालय को ओर इस आशय का द्योतक इसके साथ कोई लेबल नहीं लगा है जिस प्रतिमा पर यह अभिलेख उट्टंकित है, उसके निर्माण में "रेड सैंड स्टोन" प्रयोग में लाया गया है । इसके अतिरिक्त इस मूर्त्ति के निर्माण में मथुरा कला का निर्वाह किया गया है । अतएव इसकी प्रतिष्ठापना का मूल स्थान मथुरा मानने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है । यद्यपि यह अभिलेख खण्डित अवस्था में प्राप्त हुआ है, तथापि सुरक्षित अक्षराकृतियों के आधार पर बनर्जी ने ऐसा निष्कर्ष निकाला है कि इसके पुरालिपि-गठन का समीकरण मथुरा से उपलब्ध सबसे प्राचीन लेखों की पुरालिपि -व्यवस्था के साथ किया जा सकता है । किन्तु, अभिलेख की तिथि-विषयक निर्धारण के सन्दर्भ में इस निष्कर्ष में स्पष्टता नहीं दिखाई देती है । निम्नोक्त अक्षर-समीक्षा के आधार पर सम्भवत: इस अभिलेख को प्रथम शताब्दी ईसापूर्व के पूर्वार्द्ध में रखा जा सकता है । विषय-विस्तार का परिहार करते हुये, अभिलेख के "प" एवं "व" एवं "स" की आकृतियों" पर विचार किया जा सकता है । "प" की

शिल्प-व्यवस्था में अक्षर के शिरोभाग का समानीकरण किया गया है : ⊔ इसका समीकरण मथुरा से उपलब्ध उत्तरी क्षत्रपों को सन्दर्भित करने से अथवा समकालीन वैयक्तिक अभिलेखों की पुराभिलेख-लेखन शैली के साथ किया जा सकता है, जिनका समय कनिंघम एवं बूलर ने 80-70 ईसा पूर्व माना है।[72] इसी अक्षर के समस्तरीय "व" ∆ एवं "स" भी माने जा सकते हैं, यद्यपि "व" का आकार आर्षत्व की प्रवृत्ति प्रस्तुत करता है, क्योंकि उत्तर क्षत्रपीय ब्राह्मी में इस अक्षर को बिना लंबवत रेखा के प्रदर्शित किया गया है ∆। लंबवत रेखा से जुड़ा हुआ आकार वस्तुत: मथुरा के द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व से सम्बन्धित अभिलेखों में मिलता है। किन्तु इन द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के अभिलेखों में "प" अथवा "स" की लंववत रेखाओं का समानीकरण नहीं किया गया है ⊔, ⊔। प्रस्तुत समीक्षा से सम्भवत: यह स्पष्ट हो जाता है कि यह अभिलेख शोध-प्रबन्ध की आलोचित कालावधि के प्रथम शताब्दी ईसापूर्व के स्तर से सम्बन्धित है।

आलोचित अभिलेख में प्रतिमा की प्रतिष्ठापना करने वाले किसी ऊतर अर्थात् उत्तर नामक व्यक्ति को सन्दर्भित करते हुए, उसे गोतिपुत्र अर्थात् गौप्तिपुत्र सोवण (णिक) अर्थात् सौवर्णिक कहा गया है। शिवेश चन्द्र भट्टाचार्य ने यहाँ गौप्ति को वैश्य समुदाय के सदस्य के रूप में ग्रहण किया है। स्मरणीय है कि आलोचित कालावधि के अभिलेखों में गोतिपुत्र शब्द अनेकश: प्रयुक्त हुआ है। प्रसंगान्तर में बूलर ने गोतिपुत्र, अर्थात् संस्कृत गौप्तिपुत्र की व्याख्या करते हुये गौप्ति का तात्पर्य गौप्त जाति से माना है।[73] किन्तु

गौप्त का समीकरण गुप्त (जाति) से किया जा सकता है अथवा नहीं, ऐसी स्वाभाविक पृच्छा का उत्तर इनकी व्याख्या में नहीं मिलता है । जहाँ तक भट्टाचार्य की व्याख्या का सम्बन्ध है, सम्भवत: इन विद्वान् ने स्मार्त विधान को ध्यान में रखते हुये गौप्ति एवं गुप्त शब्दों का समीकरण किया है । स्मार्त एवं पौराणिक दोनों ही परम्पराओं में वैश्य के नामार्थ गुप्तान्त शब्द का विधान किया है[74] व्याख्या विषयक विकल्पान्तर के अभाव में, सम्भवत: भट्टाचार्य की समीक्षा को स्वीकार करने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है । इन विद्वानोंके सुझाव के प्रति सहमति व्यक्त करने के साथ-साथ यह कह सकते हैं कि अभिलेखोक्त उत्तर नामक व्यक्ति वैश्य था, तथा उसने सुवर्णकार की वृत्ति अपना ली थी । इस प्रकार आलोचित कालावधि से सम्बन्धित मथुरा के इस अभिलेख को ऐसी सम्भावना का संज्ञापक माना जा सकता है कि वैश्य समुदाय का सदस्य शिल्पकार का व्यवसाय अपना सकता था ।

<u>आलोचित कालावधि से सम्बन्धित अभिलेखों में शूद्र-शिल्पकार</u>: इन अभिलेखों में शिल्पकारों का उल्लेख बार² हुआ है, तथा अधिकांशत: वे शूद्र वर्ण के ही संज्ञापक प्रतीत होते हैं । सम्बन्धित सन्दर्भों से उनकी सामाजिक स्थिति का मूल्यांकन किया जा सकता है । प्राय: साहित्यिक साक्ष्यों के आलोक में आर०एस०शर्मा[75] तथा शिवेशचन्द्र भट्टाचार्य[76] जैसे विद्वानों ने ऐसा निष्कर्ष निकाला है कि आलोचित कालावधि में शूद्रों का एक ऐसा वर्ग उभड़ चुका था; जो शिल्प-व्यवसाय के कारण समृद्धशाली बन गये थे, तथा इन्हें राज-सम्मान एवं राजकीय संरक्षण का अवसर भी उपलब्ध करते थे । समान निष्कर्ष वी०एस० अग्रवाल का भी रहा

है, जिन्होंने साहित्यिक साक्ष्यों के सन्दर्भ में, उक्त आशय के सन्निबोधक राजबल्लभ, राजकुलालि आदि शब्दों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है।[77] किन्तु वस्तुस्थिति की अधिक स्पष्टता का सन्निदर्शन आलोचित कालावधि के मथुरा के अभिलेखों में उपलब्ध काष्टिकीय विहार[78] (काष्ठि-कीय), सौवर्णिक-विहार[79] एवं प्रावारिक-विहार[80] जैसे शब्दों के द्वारा होता है, जिन्हें क्रमशः काष्ठ-शिल्पियों, सुवर्ण-शिल्पियों एवं वस्त्र-शिल्पियों का द्योतक माना जा सकता है। ये शब्द इस बात के परिचायक हैं कि सम्बन्धित शिल्पी न केवल समृद्धिशाली ही थे, अपितु इन्हें समाज में सम्मानित स्थान प्रदान किया गया था।

विषय-विवेचन के महत्व की दृष्टि से उक्त आशय के सन्निदर्शक मथुरा केन्द्र के निम्नोक्त तीन अभिलेखों का परीक्षण किया जा सकता है। इनमें पहला अभिलेख मथुरा-संग्रहालय में सुरक्षित (नंबर, 2739) है। अभिलेख प्रस्तर-खण्ड पर सुदर्शन, सुस्पष्ट एवं सुपाठ्य अक्षरों में सुरक्षित है। सर्वप्रथम वी0एस0 अग्रवाल ने इसे अपनी पाण्डित्य-परक टिप्पणियों के साथ जर्नल ऑफ यू0पी0 हिस्टारिकल सोसाइटी (अंक 10, 1937) में प्रकाशित किया था। विषय-सापेक्ष समीक्षा करने के पूर्व, इस अभिलेख से सम्बन्धित कुछ-एक तथ्यों पर विचार करना आवश्यक बन बैठता है। एक तो यह कि इस अभिलेख के सम्भावित समय पर अभी तक विद्वानों ने विशेष ध्यान नहीं दिया है। इसका निश्चय केवल इस अभिलेख की पुरालिपि-विषयक विशेषताओं के आधार पर ही किया जा सकता है। इसमें प्रयुक्त "प" एवं "स्य" विशेषतया

विचारणीय है। अक्षर "प" में शिरोभाग के समानीकरण का प्रयास किया गया है: U, जिसके कारण इसे प्रथम शताब्दी ईसापूर्व के बाद ही रखा जा सकता है संयुक्ताक्षर "स्य" "य" की पूर्ण आकृति को ही प्रयोग में लाया गया है अर्थात् इसे उत्तरकुषाण-कालीन ब्राह्मी से पहले का माना जा सकता है, जब कि संयुक्ताक्षर की स्थिति में इसकी आकृति को प्रयोग में लाया जाता था अतएव ऐसी स्थिति में इसे आलोचित कालावधि के पूर्वकुषाण-कालीन स्तर पर रखा जा सकता है। दूसरे, इसके भाषा-विषयक गठन पर विचार करना भी आवश्यक हो जाता है। अभिलेख में प्रयुक्त पूरा वाक्य है: राजनापितस्य जाडस अथवा(जाडस)। लूडर्स की समीक्षा के अनुसार जाड शब्द के स्थान पर जाडस्य होना चाहिए था, क्योंकि इस व्यक्तिवाचक शब्द को विशेषित करने वाले राजनापित शब्द में भाषा-विषयक इसी व्यवस्था को अपनाया गया है[81], किन्तु, ऐसी समीक्षा-विषयक अवधारणा में कोई संगति नहीं दिखाई देती है। वस्तुत: अधिकांशत: उत्तरकुषाण-कालीन अभिलेखों और अल्पांशत: पूर्वकुषाण-कालीन ब्राह्मी अभिलेखों में संस्कृत-प्रभावित प्राकृत भाषा का प्रयोग हुआ है। आलोचित अभिलेख में प्रयुक्त राजनापितस्य शुद्ध संस्कृत शब्द है, तथा जाडस शुद्ध प्राकृत शब्द है; तथा ऐसी स्थिति में आलोचित अभिलेख की भाषा-विषयक अनवद्यता के प्रति सन्देह नहीं किया जा सकता है। तीसरे, यह प्रश्न भी विचारणीय बन बैठता है कि, अभिलेख में प्रयुक्त राजनापित का अर्थ क्या हो सकता है। लूडर्स ने इसका अर्थ राजा का नाई माना है[82]। किन्तु उक्त शोध-पत्रिका के सम्बन्धित पृष्ठों में अभिलेखोक्ति की व्याख्या करते हुये बी०एस० अग्रवाल ने आलोचित शब्द का अर्थ

नाइयों का प्रमुख माना है । इसके अतिरिक्त इन विद्वान् ने पाणिनीय सन्दर्भ राजदन्तादि गण के सन्दर्भ को प्रसंगित करते हुये आलोचित शब्द का भाष्य "नापितानां राजा" माना है[83] । किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि, प्रसिद्ध ग्रन्थ "इंडिया ऐज़ नोन टु पाणिनि" लिखते समय (1953 ईस्वी), अग्रवाल महोदय ने उक्त शोध-पत्रिका में प्रकाशित (1937 ईस्वी) अपने पुराने मत को संशोधित कर दिया । इस प्रसंग में इन्होंने अष्टाध्यायी के सूत्र (VI. 6-63) के आलोक में राजनापित का अर्थ राजसंरक्षित नापित माना है[84] ऐसी स्थिति में यह सुझाव रखना असंगत नहीं होगा कि व्यवसाय-परक विशेषता के कारण शूद्रों का एक विशेष वर्ग अपेक्षाकृत समृद्धिशाली बन चुका था, तथा समाज में उसकी सम्मानित स्थिति बन चुकी थी । अपने पहले सुझाव में प्रस्तुत विद्वान् ने ऐसी सम्भावना भी किया है कि जिस प्रस्तर-खण्ड पर यह अभिलेख अंकित है; वह किसी भवन में जड़ा रहा होगा, तथा यह प्रस्तर-खण्ड नापितों के प्रमुख जार (अथवा जाड?) नामक व्यक्ति के निवास-स्थान का संकेतक रहा होगा । वर्तमान अनुच्छेद के विवेचन-क्रम से सम्बन्धित दूसरा अभिलेख भी मथुरा से मिला था, तथा इसे सर्वप्रथम बूलर ने प्रकाशित किया था, तथा अपनी समीक्षा का विषय बनाया था।[85] यह जैन अभिलेख है, जिसमें शूर नामक दानकर्ता को सन्दर्भित किया गया है । शूर के लिये प्रयुक्त गोदिटक (गोष्ठिक) एवं लोहिकारक जैसे विशेषक शब्द विवेचन के विषय बनाये जा सकते हैं । वस्तुतः लोहिकाकारक शब्द लोहिककारक का भ्रामक पाठ है, क्योंकि शिल्पियों के लिये संस्कृत के शब्दकोशों में कारु शब्द ही प्रसंगित किया गया है । इसके अतिरिक्त इसी अभिलेख के समकालीन मथुरा के

ही एक दूसरे अभिलेख में लौहिक कारूक शब्द का व्यवहार किया गया है ।[86] ल्यूडर्स[87] एवं भट्टाचार्य[88] ने उक्त अभिलेख से सम्बन्धित अपनी समीक्षा में इस बात पर बल दिया है कि गोष्ठिक (अर्थात् गोष्ठी का सदस्य) शब्द के प्रयोग से लोहकारूक (अर्थात् लुहार) की समुन्नत सामाजिक स्थिति की सूचना मिलती है । यहाँ इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि मनुस्मृति में लोह-विक्रेता से सम्पर्क करना ब्राह्मण के लिये निषिद्ध माना गया है।[89] इससे यही स्पष्ट होता है कि उक्त आलोचित अभिलेख से जैन सम्प्रदाय में स्वीकृत मान्यता संस्थापित हो जाती है । भारतीय समाज की व्यापक परिधि में यही स्थिति थी, इसका संस्थापन उक्त अभिलेख से नहीं हो पाता है । प्रस्तुत अनुच्छेद के विश्लेषण-विषयक अभिलेखों में तीसरे क्रम पर काष्टकीय विहार सन्दर्भित करने वाले मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित अभिलेख को रखा जा सकता है । मथुरा में किस विशेष स्थान से यह अभिलेख मूलत: उपलब्ध हुआ था, इसके बारे में कोई सूचना नहीं मिलती है ।[90] आलोचित अभिलेख एक आसीन बोधि सत्व की प्रतिमा पर अंकित है । इसमें काष्टकीय-विहार का उल्लेख है, जिसमें किसी नागदत्त नामक भिक्षु के द्वारा अभिलिखित प्रतिमा दान का सन्दर्भण है (भिक्षुस्य नागदत्तस्य दान बोधिसत्वो काष्टकीये विहारे) । इसी अभिलेख के समस्तरीय एवं समविषयक मथुरा के दो अन्य अभिलेख हैं, जो प्रावारिक विहार[91] एवं सौवर्णिक विहार[92] का प्रसंग देते हैं । काष्टकीय विहार, प्रावारिक विहार एवं सौवर्णिक विहार, ये तीनों शब्द ऐसे बौद्ध विहारों को अभिद्योतित करते हैं जिनका निर्माण क्रमश: लकड़हारों, बुनकरों एवं सुनारों ने कराया था । इन सन्दर्भों से आलोचित कालावधि में (शूद्र) शिल्पियों की समृद्धि की सूचना मिलती है, तथा यह भी सुव्यक्त हो जाता है कि इन्हें समाज में (कम-से-कम बौद्ध सम्प्रदाय में) सम्मान एवं समादर का

स्थान मिल चुका था ।

उक्त अनुच्छेद में आलोचित अभिलेख यह स्पष्ट कर देते हैं कि आलोचित कालावधि में शूद्रों का वह वर्ग जिन्होंने शिल्प-वृत्ति को अपना लिया था, सामाजार्थिक दृष्टि से समुन्नत स्तर पर आसीन हो चुका था । इस आशय के संकेतक स्थल पुराणों में प्राप्त होते हैं । उदाहरण के लिये वायुपुराण के एक महत्वपूर्ण स्थल का सन्दर्भ दिया जा सकता है । पौराणिक शैली में इस स्थान पर ऐसा आख्यात है कि प्रारम्भ में शूद्रों की स्थिति दयनीय थी, तथा उनके जीवन-विधि में परिचर्या-वृत्ति की प्रधानता थी । उत्तरवर्ती स्तर पर ब्रह्मा को सृष्टि की संरचना को परिवर्द्धित एवं पुनर्व्यवस्थित करना पड़ा । इस स्तर पर ब्रह्मा ने उनके लिये शिल्प एवं श्रम विहित किया, जिसके परिणाम में उनकी स्थिति उन्नमित हुई, यहाँ तक कि वे राजाओं के भी संरक्षण एवं सम्मान के विषय बन गये ।[93]

सामाजिक जीवन के अन्य आलोच्य पक्ष: आलोचित कालावधि के मथुरा से उपलब्ध अभिलेख सामाजिक जीवन के महत्वपूर्ण पक्षों को प्रकाशित करते हैं । ऐसे आलोच्य पक्षों में सर्वप्रथम पारिवारिक नयाचार (FAMILY PROTOCOL का सविशेष उल्लेख किया जा सकता है । एपिग्राफिया इंडिका, खण्ड 1 में बूलर द्वारा प्रकाशित अभिलेख संख्या 3,30 एवं 38 के आधार पर बी०एन०पुरी ने ऐसा निष्कर्ष निकाला है कि यदि दानकर्ता कोई स्त्री रहती थी, तो ऐसी स्थिति में पारिवारिक सदस्यों का आनुक्रमिक गठन-क्रम निम्नोक्त होता था : प्रथम स्थान-स्त्री का श्वसुर, द्वितीय स्थान उसका पिता, तृतीय स्थान-उसका पति

तथा अन्तिम स्थान- उसके पुत्र[94]। किन्तु मथुरा केन्द्र के ही दूसरे अभिलेखिक साक्ष्य से पुरी का यह निष्कर्ष अकाट्य बन बैठता है। एपिग्राफिया इंडिका के प्रथम खण्ड का अभिलेख संख्या 4 उदाहरणीय है। आलोचित अभिलेख का मूल पाठ इस प्रकार है: मणिकारस्य जयभट्टस्वीतु लोहपाणियस्य वावरवधू फग्गुदेवस्य धर्मपत्निये मित्राये। उक्त अभिलेख से स्पष्ट है कि दानकर्ता मित्रा नामक स्त्री थी। अभिलेख में उसके पिता जयभट्ट का नाम पहले रखा गया है, तथा दूसरे एवं तीसरे क्रम पर उसके श्वसुर मणिकार वावर एवं उसके पति फग्गुदेव के नाम अंकित हुये हैं। इसी प्रकार एपिग्राफिया इंडिका खण्ड 1 में बूलर द्वारा प्रकाशित अभिलेख संख्या 2 में स्त्री दानकर्ता कुमारमित्रा के पिता का नाम पहले क्रम पर, श्वसुर का नाम दूसरे क्रम पर, पति का नाम तीसरे क्रम पर, तथा पुत्र का नाम चौथे क्रम पर रखा गया है। इसी सन्दर्भ में बी०एन०पुरी[95] एवं हरिपद चक्रवर्ती[96] द्वारा आलोचित एक अभिलेखिक साक्ष्य को पुनर्मूल्यांकन का विषय बनाया जा सकता है। इसके आधार पर उक्त दोनों ही विद्वानों ने ऐसा सुझाव रखा है कि, यदि गृहस्वामी दिवंगत हो जाता था तो ऐसी स्थिति में दानकर्त्ता स्त्री के पति के नाम के बाद उसके पिता का नाम रखा जाता था। प्रकारान्तर से दोनों विद्वान् सम्भवत: यह स्थापित करना चाहते हैं कि स्त्री के श्वसुर के दिवंगत होने के बाद उसका पति गृहस्वामी बनने का अधिकारी होता था, तथा ऐसी स्थिति में पति का नाम पहले और पिता का नाम बाद में रखा जाता था। जिस विशेष अभिलेख के आधार पर इन्होंने उक्त मत की स्थापना की है, उसे बूलर ने एपिग्राफिया इंडिका के प्रथम खण्ड में प्रकाशित किया था[97]। कुछ-एक

खण्डित अक्षरों को छोड़कर, अन्यथा यह अभिलेख सन्तोषजनक रूप में सुरक्षित है। इसका मूल पाठ निम्नोक्त है:

"··स्य धीतु ग्रामिकजयदेवस्य वधूये ····· निको जयनागस्य धर्मपत्निये सिंहदत्ताये ······· स्थंभो दने"

उक्त पंक्ति का सीधा-अर्थ है कि, अभिलिखित शिलास्तम्भ का दान जिस सिंहदत्ता नामक स्त्री ने कराया वह किसी व्यक्ति (शब्द खण्डित है) की पुत्री थी, ग्रामिक जयदेव की पुत्रवधू थी तथा ग्रामिक जयनाग की धर्मपत्नी थी। इस प्रकार अभिलेख की मूल पंक्ति से सम्बन्धित परिवार के सदस्यों का क्रमवार-अनुक्रम निम्नोक्त है:

(1) पिता, (2) श्वसुर, (3) पति। अभिलेख में गृहस्वामी के दिवंगत होने का संकेत-मात्र भी सन्दर्भित नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि आलोचित काल के अभिलेखों में पारिवारिक सदस्यों के नाम उनकी वरिष्ठता एवं वयोवृद्धता को ध्यान में रखकर अंकित किया गया है। इस प्रसंग में मथुरा केन्द्र से उपलब्ध तत्कालीन दो महत्त्वपूर्ण अभिलेखों का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें पहला है अभिलेख सं0 28, जिसे एपिग्राफिया इंडिका के प्रथम खण्ड में बूलर ने प्रकाशित किया था।[98] इसमें दानकर्त्री दिन्ना (दत्ता) नामक स्त्री का सन्दर्भ प्राप्त होता है, तथा क्रमानुसार उसके पति, तीन पुत्र, तथा एक पुत्री के नाम सन्दर्भित हुये हैं। दूसरा है, अभिलेख सं0 36 जिसे बूलर ने एपिग्राफिया इंडिका के दूसरे खण्ड में प्रकाशित किया था।[99] प्रस्तुत अभिलेख में, दानकर्त्री (विजयश्री) विजशिरि नामक महिला के पिता, पति, पुत्र एवं पौत्र का आनुक्रमिक अंकन मिलता है। पौत्र का

नामांकन इस तथ्य का प्रमापक है कि सम्बन्धित महिला काफी वयोवृद्ध रही होगी

सम्मिलित परिवार-व्यवस्था उक्त अनुच्छेद में समीक्षित विभिन्न अभिलेखों से यह सुव्यक्त हो जाता है आलोचित कालावधि के समाजिक जीवन में सम्मिलित परिवार व्यवस्था का प्रचलन था । परिवार के सदस्य थे; पिता, किन्हीं-किन्हीं सन्दर्भों में श्वसुर, पति, पुत्र, पुत्री, प्रपौत्र-प्रपौत्री, पत्नी, माता एवं मातामही । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि परिवार की परिधि विस्तृत थी । अभिलेखिक साक्ष्य यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि परिवार में, कभी-कभी, पुत्र के पुत्र के अतिरिक्त पुत्री के पुत्र को भी सम्मिलित किया जाता था । इस सन्दर्भ में एपिग्राफिया इंडिका के खण्ड 10 में आर०डी० बनर्जी द्वारा प्रकाशित[200] एक अभिलेख का उदाहरण दिया जा सकता है । इस अभिलेख में दानकर्ता के रूप में कुटुक नामक व्यक्ति की पत्नी का अंकन है, तथा इसके साथ ही उसके पुत्रों, पुत्रियों के पुत्र एवं पुत्रों के पुत्र का भी अंकन किया गया है ।

कुषाणकालीन अभिलेखों के सामाजिक अनुशीलन के सन्दर्भ में पुरी महोदय ने ऐसा सुझाव रखा है कि तत्कालीन सम्मिलित परिवार में श्वसुर की गणना नहीं की जाती थी । किन्तु तत्कालीन मथुरा केन्द्र से उपलब्ध अभिलेखों की रचना उक्त सुझाव के विरोध में जाती है । विषयान्तर के विवेचन-प्रसंग में उक्त अनुच्छेद में ऐसे दो अभिलेखों का उल्लेख किया जा चुका है, जो धाधर एवं जयदेव को अंकित करते हैं, तथा सम्बन्धित दानकर्ता स्त्रियों के श्वसुर थे, और इन्हें पारिवारिक सदस्यों में सम्मिलित किया गया है ।

आलोचित कालावधि के मथुरा केन्द्र से उपलब्ध अभिलेख यह भी स्पष्ट

कर देते हैं कि पारिवारिक नियमन की सत्ता माता में केन्द्रित था, तथा उसका स्थान पिता की अपेक्षा अधिक उन्नमित माना जाता था । इस जानकारी की सूचना जिन अभिलेखों से मिलती है, उनमें बूलर द्वारा प्रकाशित एपिग्राफिया इंडिका, प्रथम खण्ड के अभिलेख सं0 18[101] का उल्लेख किया जा सकता है । प्रस्तुत अभिलेख दधिकर्ण के मन्दिर में चन्दक बन्धुओं द्वारा दान प्रसंगित करता है । इसका विषय-सापेक्ष पंक्ति है "मातापितृणं अग्रप्रत्यंशताये भवतु" । आलोचित वाक्यांश का "अग्रप्रत्यंशताये" शब्द विचारणीय है । अभी तक के उपलब्ध कुषाणकालीन अभिलेखों में यह शब्द अन्य किसी अभिलेख में नहीं मिलता । इस सन्दर्भ में बूलर ने हमारा ध्यान कुरा से उपलब्ध तोरमाण के अभिलेख की ओर आकर्षित किया है । इसमें "अग्रप्रत्यंशताये" का समस्तरीय "अग्रेभावप्रत्यंशतायाः" शब्द प्राप्त होता है ।[102] इसका अर्थ आनुक्रमिक वरीयता माना गया है । आलोचित अभिलेख में प्रयुक्त "अप्रत्यंशताये" का अर्थ हुआ कि दान से अर्जित पुण्य का अंश पहले माता को प्राप्त हो, तथा उसके उपरान्त पिता को प्राप्त हो । आलोचित अभिलेख यह भी सुव्यक्त कर देते हैं कि माता एवं पिता का स्तर सश्रु एवं श्वसुर की अपेक्षा अधिक उन्नमित माना जाता था । इस आशय की सूचना बूलर द्वारा प्रकाशित एपिग्राफिया इंडिका के प्रथम खण्ड के अभिलेख सं0 17 से प्राप्त होती है।[103] प्रस्तुत अभिलेख किसी बलहस्तिनी नामक दानकर्त्री स्त्री को सन्दर्भित करता है, तथा प्रसंगतः उसके माता, पिता, सश्रु एवं श्वसुर का नामांकन आनुक्रमिक वर्णन योजना में हुआ है ।

आलोचित कालावधि के मथुरा से उपलब्ध अभिलेख स्त्रियों के नामार्थ

कुछ-एक महत्वपूर्ण शब्दों का प्रयोग करते हैं, जिनमें आलोचना-परक शब्द है, कुटुंबिनी, भार्या, धर्मपत्नी एवं सहचरी । जिन विद्वानों ने इन अभिलेखोक्त शब्दों को अपने विवेचन का विषय बनाया है, उनमें बूलर एवं पुरी के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं । बूलर के अनुसार कुटुंबिनी का तात्पर्य गृह-पत्नी से है, भार्या का अर्थ सामान्य पत्नी है, तथा धर्मपत्नी शब्द से शास्त्रोक्त पद्धति से परिणीता प्रथम पत्नी का द्योतन होता है।[104] पुरी के अनुसार कुटुंबिनी, भार्या और धर्मपत्नी को पर्यायवाची शब्दों के रूप में ग्रहण किया जा सकता है, तथा सहचरी शब्द, दाम्पत्य जीवन के सहायक का द्योतक है।[105] हरिपद चक्रवर्ती ने बूलर की व्याख्या को सर्वांशतः स्वीकार किया है।[106] इन शब्दों के अर्थ एवं सम्भावित व्याख्या के लिये "सहचरी" से प्रारम्भ किया जा सकता है । एपिग्राफिया इंडिका खण्ड 1, अभिलेख सं0 1 के सन्दर्भ[107] में इस शब्द की व्याख्या करते हुये बूलर ने इसका अर्थ दाम्पत्य जीवन का साथी माना है । अतएव पुरी का यह कथन भ्रामक है कि बूलर ने आलोच्चित शब्द का अनुवाद नहीं किया है । एपिग्राफिया इंडिका खण्ड 1, अभिलेख सं0 9 में इसी शब्द का समानार्थक "षद्चरी" शब्द प्रयुक्त हुआ है, तथा बूलर ने यह सही सुझाव रखा है कि यह शब्द "श्राद्धचरी" का समरूपीय है।[108] वस्तुतः, सहचरी, षद्चरी अथवा श्राद्धचरी - ये तीनों ही शब्द पत्नी के महत्व के एक विशेष पक्ष को अभिद्योतित करते हैं, तथा धर्मशास्त्रिक व्यवस्था के संज्ञापक हैं । इस सन्दर्भ में आपस्तम्ब धर्मसूत्र के एक महत्वपूर्ण स्थल (2·6·13·16·-17) काउद्धरण दिया जा सकता है, जिसके अनुसार विवाह के उपरान्त सभी धार्मिक कृत्यों का एक साथ सम्पादन करने के कारण पत्नी और

पति में परस्पर विभाजन नहीं होता है[109]। जहाँ तक कुटुंबिनी शब्द का प्रश्न है, आलोचित अभिलेखों में इसका प्रयोग अनेकशः प्राप्त होता है[110]। बूलर के अतिरिक्त लूडर्स ने भी इस शब्द का अर्थ गृहपत्नी ही माना है।[111] किन्तु इसके अर्थ के निश्चयार्थ साहित्यिक सन्दर्भों को व्याख्यायित करना अधिक अपेक्षित प्रतीत होता है। इन सन्दर्भों की समीक्षा करते हुये अनन्त सदाशिव अलटेकर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि, यद्यपि गार्हस्थ्य-जीवन के नियमन की सर्वोपरि सत्ता पिता में केन्द्रित थी, किन्तु पत्नी का स्थान अधीनस्थ होने के बावजूद सम्मानित माना जाता था। वैदिक एवं महाभारतीय समाज में उसे शिष्ट और सम्मान का स्थान मिला था[112]। उसे, यदि एक ओर गृह का भूषण माना जाता था,[113] तो दूसरे गृह का मूर्तिमान प्रतिरूप भी माना जाता था[114]। अथर्ववेद से यह सुव्यक्त हो जाता है कि गार्हस्थ्य-जीवन को पत्नी अव्याहत रूप में चलाती थी, तथा उसका निर्देशन सर्वोपरि माना जाता था[115] इस प्रकार "कुटुंबिनी" शब्द से पत्नी के स्तर का एक महत्वपूर्ण पक्ष अभिद्योतित होता है। इस सन्दर्भ में मथुरा से उपलब्ध एक अभिलेख की चर्चा की जा सकती है, जो यद्यपि खण्डित अवस्था में मिला है, तथापि विषय के अनुकूल महत्वपूर्ण वाक्य इसमें सुरक्षित है। आलोचित अभिलेख को आर०डी० बनर्जी ने एपिग्राफिया इंडिका के खण्ड 1 में प्रकाशित किया था[116]। अभिलेख का सुरक्षित वाक्य इस प्रकार है" ...स्य वृता कुटुकस्य कुटुंबिनी" अर्थात् कुटुक नामक व्यक्ति की वृता कुटुंबिनी। आर०डी० बनर्जी ने अभिलेख में प्रयुक्त "वृता" शब्द का अर्थ "चयन की गई" माना है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द उक्त अनुवाद की अपेक्षा किसी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक अभिव्यंजना का द्योतक है। प्रस्तुत प्रसंग में महाभारत के एक स्थल का उल्लेख किया जा सकता है, जो

आलोचित शब्द के अभीष्ट अर्थ का स्पष्टीकरण करने में महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। आलोचित महाकाव्य के शान्तिपर्व में पाण्डु का प्रसंग देते हुये उस अज्ञात अतीत काल को सन्दर्भित किया गया है, जब कि स्त्रियाँ अनियंत्रित (अनावृत्त) रहती थीं तथा स्वतंत्र रहकर अपने कामाचार के अनुसार विहार करती थीं।[117] सम्भवत: आलोचित अभिलेख में प्रयुक्त वृता शब्द महाभारत के उक्त प्रसंग में प्रयुक्त अनावृता के सन्दर्भ में व्याख्यापित करने पर अभीष्ट तात्पर्य का संज्ञापक बनाया जा सकता है। वस्तुत: "वृत" शब्द का अर्थ मात्र "चयन की हुई मानने से अभिलेख का सन्दर्भ स्पष्ट नहीं हो पाता। अतएव, अभिलेखोक्त "वृत" शब्द से कुटुक नामक व्यक्ति की पत्नी की शिष्ट एवं अनुशासित प्रकृति का अभिव्यक्तीकरण होता है, तथा प्रकारान्तर से कुटुक के पारिवारिक जीवन के सन्तुलन-परक स्थिति की सूचना मिलती है। जहाँ तक आलोचित अभिलेखों में पत्नी के द्योतक अन्य शब्दों का प्रश्न है संख्या-विषयक प्रयोग-प्रचुरता की दृष्टि से कुटुंबिनी" शब्द के बाद भार्या" शब्द का व्यवहार हुआ है।[118] बूलर ने सभी प्रसंगों में इसका अनुवाद पत्नी किया है। महाभारत के प्रसंगानुकूल स्थलों से यह सुव्यक्त हो जाता है कि, उसे यह संज्ञा इसलिये मिलती है, क्योंकि उसके भरण का भार भर्त्ता पर रहता है।[119] ऐसी स्थापना की गई थी कि ईश्वरीय प्रेरणा के परिणाम में भार्या अपने पति की सखा मानी जाती थी[120] (भार्या देवकृता: सखा)। विषय-विवेचन की दृष्टि से आलोचना-परक उक्त सभी शब्दों में सबसे महत्त्व-पूर्ण "धर्मपत्नी" शब्द है। एपिग्राफिया इण्डिका खण्ड 1 के पृष्ठ 382 एवं 383 पर प्रकाशित अभिलेखों में प्रयुक्त "धर्मपत्नी" शब्द का अनुवाद, इन अभिलेखों के सम्पादक बूलर ने "प्रथम पत्नी" माना है; तथा इसे पुरी एवं

हरिपद चक्रवर्ती जैसे विद्वानों ने स्वीकार भी कर लिया है। किन्तु प्रसंगानुकूल साहित्यिक सन्दर्भों से ऐसा व्यक्त होता है कि इसकी पारम्परिक व्याख्या अपेक्षाकृत अधिक व्यापनशील अर्थ की संकेतक है। वस्तुतः, परम्परा के अनुसार पत्नी को धर्मपत्नी इसलिये कहते हैं क्योंकि वह यज्ञ-विषयक एवं अन्य धर्म-विषयक कृत्यों में सर्वाशतः पति का साथ देती है। इस आशय के संज्ञापक साक्ष्य निम्नोक्त हैं; अष्टाध्यायी के अनुसार यज्ञ-विषयक कृत्यों में पति के साथ रहने के कारण उसे "पत्नी" की संज्ञा मिलती है।[121] वैदिक ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण में विहित है कि पत्नी के अभाव में अग्निहोत्र नहीं सम्पन्न किया जा सकता है।[122] सबसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग रघुवंश में उपलब्ध होता है। दिलीप की गोसेवा के सम्बन्ध में कहा गया कि सुदक्षिणा उनका सदा अनुगमन करती थी, ठीक उसी प्रकार जैसे श्रुति का अनुगमन स्मृति करती है। इस प्रसंग में सुदक्षिणा को "धर्मपत्नी" शब्द से सम्बोधित किया गया है।[123] रघुवंश के आधुनिक भाष्यकार एम०आर० काले ने धर्मपत्नी का अर्थ धार्मिक कृत्यों में सहयोग प्रदान करने वाली पत्नी माना है।[124] इस शब्द का अधिक विशदीकृत अर्थ कालिदास के ग्रन्थों के पारम्परिक व्याख्यापयिता मल्लिनाथ के भाष्यमेंमिलता है। इनके अनुसार, जो साध्वी पत्नी अनन्य हृदय से नित्य पति की सेवा करती है, उसे "धर्मपत्नी" की संज्ञा दी जाती है।[125] ऐसी स्थिति में, धर्मपत्नी का प्रथम पत्नी अर्थ मानना भ्रामक है। वस्तुतः इस शब्द से पत्नी की पदगुरुता एवं स्तर-विषयक प्रकर्ष की इद्यत्ता का सन्निबोध होता है।

स्त्री: उपासना का विषय आलोचित कालावधि के मथुरा से उपलब्ध अभिलेखों में एक ऐसा महत्वपूर्ण अभिलेख है, जिसके आधार पर न केवल तत्कालीन नारी-दशा का सामान्य मूल्यांकन किया जा सकता है; अपितु इसे ऐसे तथ्य का विशेष प्रमापक भी माना जा सकता है कि वस्तुत: दिवंगत नारी की विशेष परिस्थितियों में प्रतिमा-प्रतिष्ठापना भी की जाती थी । आलोचित अभिलेख मथुरा के मोरा नामक स्थान से प्राप्त हुआ था, तथा इसे एक शिला निर्मित नारी प्रतिमा की पीठिका पर उट्टंकित किया गया है । अभिलेख खण्डित अवस्था में मिला है, तथा इसमें कुषाण नरेश का शासन-काल सन्दर्भित है । तिथि को द्योतित करने वाला अंश सुरक्षित नहीं है । सुरक्षित वाक्य निम्नोक्त है: कनिष्कस माथुरि कलवडा वोडिरिव...... तोषाये प्रतिमा" । इस अभिलेख के मूल सम्पादक लूडर्स के अनुसार इसके अक्षर इतने अधिक खण्डित हो चुके हैं कि इसके वाक्य का सुसम्बद्ध अनुवाद करना कठिन है ।[126] तथापि लूडर्स ने "तोषाये प्रतिमा" के अर्थ-निश्चयार्थ दो विकल्पों को प्रस्तावित किया है । या तो अभिलेख का तात्पर्य है कि तोषा नामक नारी ने इस प्रतिमा की प्रतिष्ठापना की थी, अथवा तोषा की प्रतिमा को प्रतिष्ठापित किया गया था । स्मरणीय है कि मथुरा के तत्कालीन अभिलेखों में ऐसे वाक्य अनेकश: प्रयुक्त हुये हैं, जैसे वर्द्धनप्रतिमा अथवा वर्द्धमानस्य प्रतिमा ।[127] ऐसी स्थिति में दूसरे वैकल्पिक अर्थ की सम्भावना अधिक दिखाई देती है । सम्भवत: इसी तोषा को शोडासकालीन मथुरा के एक अभिलेख में सन्दर्भित किया गया है, जिसके अनुसार तोषा ने एक भव्य भवन का निर्माण कराया था ।[128] कनिष्क के काल तक यही तोषा जीवित रही हो, यह

अकल्पनीय है । किन्तु ऐसी सम्भावना की जा सकती है कि इसी शोडासकालीन तोष। की प्रतिमा का निर्माण, सम्भवत: उसी भवन में उसके सम्मान में कनिष्क के काल में उसके किसी वंशधर ने कराया था, जिसका नाम अभिलेख में सुरक्षित नहीं है ।

विवाह-प्रथा मथुरा के आलोचित अभिलेख आलोचित कालावधि में प्रचलित विवाह प्रथा पर भी प्रकाश डालते हैं । विषय के गवेषकों ने निम्नोक्त तीन अभिलेखों को सन्दर्भित किया है :

(1) एपिग्राफिया इंडिका, खण्ड 1 का अभिलेख संख्या 11 प्रस्तुत अभिलेख में धर्मपत्नी शब्द का व्यवहार हुआ है, तथा इसके आधार पर हरिपद चक्रवर्ती[129] ने इसे बहु-विवाह-प्रथा का संज्ञापक माना है । किन्तु ऐसी मानना उसी स्थिति में तर्कसंगत है, जब कि बूलर का धर्मपत्नी-विषयक अनुवाद, अर्थात् "प्रथम पत्नी" मान लिया जाय । जैसा कि पूर्वगामी पृष्ठों में दिखाया जा चुका है, यह अनुवाद भ्रामक है । अतएव मात्र धर्मपत्नी शब्द सन्दर्भित करने वाले अभिलेखों के आधार पर बहुविवाह-प्रथा के तत्कालीन प्रचलन का प्रमापक नहीं माना जा सकता है ।

(2) एपिग्राफिया इंडिका, खण्ड 2 का अभिलेख संख्या 36[130] प्रस्तुत अभिलेख भी धर्मपत्नी शब्द सन्दर्भित करता है, तथा हरिपद चक्रवर्ती ने इसे बहु-विवाह-प्रथा का संज्ञापक साक्ष्य माना है । क्रम-संख्या 1 के अभिलेख के सन्दर्भ में प्रस्तावित तर्कों के आधार पर इस साक्ष्य को भी मान्यता देने में कठिनाई दिखाई देती है ।

(3) एपिग्राफिया इंडिका, खण्ड 1 का अभिलेख संख्या 4[131] पूर्वगामी पृष्ठों पर विषयान्तर के विवेचन में प्रस्तुत अभिलेख की समीक्षा की जा चुकी है। आलोचित अभिलेख में मित्रा नामक नारी को सन्दर्भित करते हुये उसे मणिकार की पुत्री एवं लोहवाणिय की पुत्रवधू घोषित किया गया है। इस सन्दर्भ में निम्नोक्त तीन सुझाव प्रस्तावित किये गये हैं : (1) इसके द्वारा समाज के अन्तर्जातीय विवाह-प्रथा के प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है।[132] (2) इसके द्वारा अन्तर्जातीय विवाह प्रथा की सूचना नहीं मिलती। प्रत्युत इससे यह प्रतीत होता है कि जाति एक ही है किन्तु व्यवसाय परस्पर भिन्न हैं।[133] (3) तीसरे सुझाव के अनुसार इस तथ्य का द्योतक है कि विवाह सम्बन्ध ऐसे दो परिवारों में सम्पन्न हुआ था, जो परस्पर भिन्न व्यवसाय का अनुसरण कर रहे थे।[134]

तीसरे सुझाव को स्वीकार करने के साथ-साथ यह कहा जा सकता है कि आलोचित कालावधि के जितने अभिलेख अभी तक मथुरा केन्द्र से उपलब्ध हुये हैं, उनसे धर्मशास्त्र-सम्मत सजातीय विवाह की ही सूचना मिलती है।

शिक्षा-विधि के संज्ञापक अभिलेख आलोचित कालावधि के जितने अभिलेख प्राप्त हुये हैं उनकी समीक्षा से यह सुव्यक्त हो जाता है कि तत्कालीन शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र बौद्ध-विहार थे; जिनमें आचार्य एवं अन्तेवासी सामूहिक एवं अनुशासित जीवन व्यतीत करते थे। इनके निम्नोक्त अभिलेखों विशेषतया सन्दर्भित किया जा सकता है :

(1) कौशाम्बी से उपलब्ध बौद्ध आयागपट्ट अभिलेख[135] प्रस्तुत

अभिलेख का समय पुरालिपि-समीक्षा के आधार पर प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व माना जा सकता है । इसमें पालि-साहित्य में बहुवर्णित घोषितराम-विहार का उल्लेख आता है । यह अभिलेख बौद्ध विहार के आचार्य भदन्त धर एवं इनके अन्तेवासी फगुल को प्रसंगित करता है । अभिलेख की भाषा संस्कृत-प्रभावित प्राकृत है । इससे प्रतीत होता है कि विहारों के भिक्षु संस्कृत का भी प्रयोग करते थे ।

(2) कनिष्क के राज्यकाल के वर्ष 2 को सन्दर्भित करने वाला कौशाम्बी से उपलब्ध बुद्ध प्रतिमा का अभिलेख[136] ।

(3) इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संग्रहालय में सुरक्षित कनिष्क कालीन बुद्ध प्रतिमा (दो) अभिलेख[137] ।

(4) हुविष्क के राज्यकाल के वर्ष 33 को सन्दर्भित करने वाला लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित बुद्ध प्रतिमा अभिलेख। उक्त सभी अभिलेखों में विषय-विवेचन के अनुकूल निम्नोक्त सूचनाएँ प्राप्त होती हैं । बौद्ध विहारों में त्रिपिटक साहित्य की विशेष शिक्षा दी जाती थी । अन्तेवासी के अतिरिक्त अन्तेवासिनी भी इनमें शिक्षा प्राप्त करती थीं (बुद्धमित्रा ये त्रैपिटिकायें) । त्रिपिटक साहित्य के आचार्य इन में सम्मानित शिक्षक माने जाते थे (बलस्यत्रैपिटिकस्य)। इन अभिलेखों में "सद्धेविहारिस्य" और "भितिक विहारिणं" शब्द इस तथ्य के संज्ञापक हैं कि बौद्ध विहारों में परस्पर स्नेहिल बन्धुत्व की भावना रहती थी । शिक्षकों को, भदन्त, उपाध्याय एवं आचार्य (भयन्तस धरस, उपाध्यायाचार्येहि)

शब्दों से सम्बोधित किया जाता था । इसके अतिरिक्त "उपज्झायेन अन्तेवासिन सद्धं अन्तेवासिकेहि सद्धं भन्ते ..तिनेहि" जैसे शब्द एवं वाक्य तत्कालीन गुरु-शिक्षा प्रणाली पर भी प्रकाश डालते हैं । इसके अतिरिक्त इनसे कुषाण-कालीन बौद्ध धर्म के दो प्रमुख सम्प्रदायों- समितीय[138] एवं धर्मगुप्तक-[139] से सम्बन्धित शिक्षकों का पृथकशः वर्णन प्राप्त होता है ।

उक्त अभिलेखों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आलोचित कालावधि के अभिलेख अधिकांशतः बौद्ध शिक्षा-विधि को ही प्रकाशित करते हैं; तथा कौशाम्बी एवं मथुरा के बौद्ध विहार इसके प्रमुख केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे ।

मनोविनोद के साधन प्रस्तुत विषय पर प्रकाश डालने वाले निम्नोक्त अभिलेख सन्दर्भित किये जा सकते हैं: (1) कनिष्क के राज्यकाल के वर्ष 3 को प्रसंगित करने वाला कौशाम्बी का अभिलेख । (2) इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संग्रहालय में सुरक्षित कनिष्क को सन्दर्भित करने वाले बुद्ध प्रतिमा अभिलेख । विषयान्तर-विवेचन के सन्दर्भ में इन अभिलेखों की समीक्षा पूर्वगामी पृष्ठों पर की जा चुकी है । इन अभिलेखों में प्रयुक्त चक्कम अथवा चंक्रम अथवा चंक्रन शब्द विचारणीय है । साहित्यिक साक्ष्यों के सन्दर्भ में विवेचित करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि चंक्रम उस विशेष स्थान को कहा जाता था, जहाँ व्यायाम का अभ्यास होता था, तथा इसे बौद्ध विहार के खुले भागमें निर्मित किया जाता था (कौशाम्बीकुटीविहारामिन्द) । (3) एपिग्राफिया इंडिका, खण्ड 1, अभिलेख संख्या 18[140] । मथुरा से उपलब्ध यह अभिलेख शैलालक" शब्द

प्रसंगित करता है। भरत के नाट्य-शास्त्र में शैलालिकों को प्रेक्षा-गृह के अभिनेता के रूप में निर्दिष्ट किया गया है।[141] इसे तत्कालीन मनोविनोद के महत्वपूर्ण साधन के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। (4) एपिग्राफिया इंडिका, खण्ड 2, अभिलेख संख्या 5।[142] मथुरा से उपलब्ध प्रस्तुत अभिलेख नन्दुपुर नामक नर्तक (फग्गुयश नर्तकस) का उल्लेख करता है। (5) एपिग्राफिया इंडिका, खण्ड 1, अभिलेख संख्या 21।[143] प्रस्तुत अभिलेख "रङ्गनर्तनै" शब्द प्रसंगित करता है। बूलर ने इसका अर्थ प्रेक्षा-गृह का नर्तक माना है, यद्यपि इस अर्थ में बूलर संशयशील भी प्रतीत होते हैं, जैसा वे शब्दोपरान्त प्रश्न चिन्ह से व्यक्त होता है।[144] बी०एन० मुखर्जी ने इसका अर्थ प्रेक्षागृह का नर्तक ही माना है।[145] इस सन्दर्भ में बी०एन० पुरी ने ललित विस्तर में प्रयुक्त रंगमंडल शब्द का उल्लेख किया, जहाँ मल्लयुद्ध आयोजित किया जाता था। अतएव आलोचित शब्द का अर्थ प्रेक्षा-गृह मानने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है।

अन्न-पान : प्रस्तुत विषय का संज्ञापक आलोचित कालावधि का अभी तक केवल एक अभिलेख मिला है। यह अभिलेख मथुरा से मिला था, तथा यह एक शिलास्तम्भ पर अंकित है। इसमें हुविष्क के राज्यकाल का वर्ष 28 सन्दर्भित है।[146] प्रस्तुत अभिलेख निम्नोक्त खाद्य पदार्थों को वर्णित करता है: (1) सांध-सक्त डी०सी० सरकार ने इसका तात्पर्य स्वादिष्ट सत्तू माना है।[147] (2) लवण, (3) शक्त- बी०एन०पुरी का सुझाव सम्भवत: ग्राह्य है कि यह शब्द आँटा का द्योतक हो सकता है। (4) हरितकलापक-इसका अर्थ हरी सब्जी माना जा

सकता है । इन्हें निर्धनों (अनाथालयों के) का भाग जाता है । सामान्य अथवा समृद्ध नागरिकों के खाद्य-पदार्थ के विषय में इन अभिलेखों से कोई सूचना नहीं मिलती है ।

सन्दर्भ-निर्देश

1- इस ग्रन्थ को प्रकाश में लाने का श्रेय कर्न को है, जिन्होंने इसे बृहत्संहिता के सम्पादकीय भूमिका में प्रसंगित किया था (कलकत्ता, 1865, भूमिका, पृष्ठांक 32-40) इसके उपरान्त कर्न की खण्डित पाण्डुलिपि एवं दो अन्य पाण्डुलिपियों के आधार पर इसे अनुवाद एवं टिप्पणियों के साथ इसे के0पी0 जायसवाल ने जर्नल आफ् बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी (जे0बी0ओ0आर0एस0) (1928) में प्रकाशित किया। जिन अन्य विद्वानों ने इस ग्रन्थ की ऐतिहासिकता का मूल्यांकन किया है, उनमें निम्नोक्त महत्त्वपूर्ण है: डी0आर0 मनकद (जायसवाल द्वारा खोजी हुई एवं स्वयं गुजरात से उपलब्ध पाण्डुलिपि के आधार पर इन्होंने इस ग्रन्थ का एक प्रामाणिक संस्करण निकाला, (विद्यावल्लभनगर, 1951) के0एच0 ध्रुव (जे0बी0ओ0आर0 एस0 खण्ड 16), डी0सी0 सरकार (जर्नल आफ् रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन ऐण्ड आयरलैण्ड); तथा जी0आर0 शर्मा (रेह इंसक्रिप्शन आफ् मेनेण्डर ऐण्ड दि इण्डो ग्रीक इनवेज़न आफ् दि गंगा वैली, इलाहाबाद, 1980, पृ0 55)। विस्तृत विवरण के लिये द्रष्टव्य, जे0बी0 ओ0आर0 एस0 खण्ड 14, पृष्ठांक 402, 408, 410, 413-414)

2- विष्णु पुराण, 6·1·10, 49

3- आर0सी0हज़रा, स्टडीज़ इन दि पुराणिक रेकर्ड्स ऑन हिन्दू, राइट्स ऐण्ड कस्टम्स, पृष्ठांक 174 तथा अनुवर्ती पृष्ठ।

4- इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, खण्ड 5, पृष्ठांक 1 तथा अनुवर्ती पृष्ठ।

4अ- कुषाण स्टडीज़ (जी0आर0शर्मा द्वारा सम्पादित, इलाहाबाद, 1968) पृष्ठांक 74-75।

5- भास्कर चट्टोपाध्याय, कुषाण स्टेट ऐण्ड इण्डियन सोसाइटी (कलकत्ता, 1975) पृ० 186.

6- एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० 186

6अ- बी०एस० अग्रवाल, एंशेंट इण्डिया, अंक 4, पृष्ठ 155, एस०सी० काला, टेराकोटाज़ इन दि इलाहाबाद म्युज़ियम, फलक 192

7- जी०आर० शर्मा, मेमायर्स आफ आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, 74, अध्याय 6; जी०आर०शर्मा एवं जे०एस० नेगी, कुषाण स्टडीज़, पृष्ठ 57, जी० आर० शर्मा, एक्सकेवेशंस ऐट कौशाम्बी, पृष्ठांक 74-75

8- भास्कर चट्टोपाध्याय, तत्रैव, पृष्ठ 186

9- भास्कर चट्टोपाध्याय, तत्रैव, पृष्ठ 209

10- भास्कर चट्टोपाध्याय, तत्रैव, पृष्ठ 210

11- बी०एन०एस० यादव, कुषाण स्टडीज़ (जी०आर०शर्मा द्वारा सम्पादित, इलाहाबाद, 1968) पृष्ठ 78 । आन्तरिक साक्ष्यों के आधार पर अंगविज्जा का समय निश्चित किया जा सकता है । ग्रन्थ के पृष्ठ 4 पर "दीनार मालक" शब्द विशेष वर्ग की मुद्राओं के द्योतनार्थ प्रसंगित हैं । इससे रोमन दिनैरियस अभिव्यंजित होता है । प्रारम्भ में दीनार शब्द रजत निर्मित रोमन दिनैरियस का द्योतक था । किन्तु लगभग प्रथम शताब्दी ईस्वी से इसे सुवर्ण-निर्मित एवं उत्तरवर्त्ती स्तरों पर ताम्र-निर्मित मुद्रा की मान्यता मिली थी । तृतीय शताब्दी ईस्वी के नागार्जुनीकोण्ड के अभिलेखों में

प्रसंगित दिनारनासिक शब्द की व्याख्या करते हुये डॉ डी०सी० सरकार (सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, भाग 1, पृष्ठ 231, टिप्पणी 4) ऐसा सुझाव रखते हैं कि यह शब्द या तो वास्तविक रोमन मुद्राओं, अथवा उनकी भारतीय अनुकृतियों का द्योतक है, तथा इनके आयात का केन्द्र दक्षिण भारत था ।

12- अंगविज्जा (प्राकृत टैक्स्ट सिरीज़, वाराणसी), पृ० 9।

13- विष्णुपुराण, 4, 24, श्लोक संख्या 21 तथा अनुवर्ती श्लोक

14- बी०एन०एस०यादव, तत्रैव, पृष्ठ 79;

मिलिन्दपन्ह, 4, 3, 26; सामान्य रूप में बी०एन०पुरी ऐसा सुझाव रखते हैं कि ग्रन्थ के आन्तरिक साक्ष्यों के आधार पर इसका समय प्रथम एवं तृतीय शताब्दी ईस्वी के अन्तर्वर्ती काल में कभी रखा जा सकता है (कुषाण बिब्लोग्राफी, पृष्ठ 93) । राइज़ डेविड्स के अनुसार प्रथम शताब्दी ईस्वी के लगभग यह ग्रन्थ उत्तर भारत में लिखा गया । इसकी रचना या तो संस्कृत अथवा किसी उत्तर भारतीय प्राकृत में सम्पन्न हुई थी (इनसाइक्लोपीडियाआफ़ रेलिजन ऐण्ड इथिक्स, भाग 8, पृष्ठांक 63 तथा अनुवर्ती पृष्ठ) । विन्टरनित्स के अनुसार मूल ग्रन्थ की रचना प्रथम शताब्दी इस्वी में सम्पन्न हुई थी (हिस्ट्री आफ़ इण्डियन लिटरेचर, भाग 2, पृष्ठांक 174 तथा अनुवर्ती पृष्ठ) ।

15- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 9, पृष्ठ 244

16- इस ग्रन्थ को मूलतया याकोबी ने सम्पादित किया था, जेड०डी०एम०जी० 1880 पृष्ठांक 217 तथा अनुवर्त्ती पृष्ठ; स्तेन कोनो ने इसका संक्षिप्त

संस्करण निकाला, सी०आइ०आइ, भाग 2, खण्ड 1, भूमिका पृष्ठांक 36 तथा अनुवर्ती पृष्ठ । विस्तृत विवरण के लिये द्रष्टव्य बी०एन०एस० यादव, तत्रैव पृष्ठ 82

17- मनुस्मृति, 7.115

18- मिलिन्दपन्ह, पृष्ठ 47

19- डी०सी० सरकार, इण्डियन एपिग्रैफिकल ग्लासरी, पृष्ठ 330

20- तत्रैव

21- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 24, पृष्ठांक 194 तथा अनुवर्ती पृष्ठ

22- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 24, पृष्ठांक 10

23- बी०एन०पुरी, इण्डिया अण्डर दि कुषाणाज़, पृष्ठ88

24- बी०एन०मुखर्जी, इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, जुलाई 1980-जनवरी, भाग 7 (प्रकाशित लेख), पृष्ठ 41

25- तत्रैव

26- जर्नल आफ़ रायल एशियाटिक सोसाइटी, (जे०आर०एस०) 1910 पृष्ठांक 1315-17

27- एच०लूडर्स, मथुरा इंसक्रिप्शंस (के०एल० जेनर्ट द्वारा सम्पादित, 1961) पृष्ठ 126

28- शतपथ ब्राह्मण, 11, 7.3.3

29- हरिपद चक्रवर्ती, अर्ली ब्राह्मी इंसक्रिप्शंस आफ इण्डिया, पृष्ठ 28

30- जे०फोगेल, जर्नल आफ् दि पंजाब हिस्टारिकल सोसाइटी, भाग 2, 1913; के०पी० जायसवाल, जे०बी०ओ०आर०एस०, भाग 6, 1920, फ्लीट, जे०आर०एस० 1914, एच०लूडर्स, तत्रैव पृष्ठ 134

31- के०पी० जायसवाल, तत्रैव पृष्ठांक 12-22

32- फ्लीट, जे०आर०एस० 1914, पृष्ठांक 369-71

33- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 21, पृष्ठांक 59 तथा अनुवर्ती पृष्ठ

34- लूडर्स के मत में कुषाणपुत्र खरोष्ठी अभिलेखों में प्रयुक्त गुषण का रूपान्तर है, तत्रैव पृष्ठ 136

35- के०पी० जायसवाल, तत्रैव पृष्ठ 17

36- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 21, 1931-32, पृष्ठांक 55-61

37- बुलेटिन आफ् स्कूल आफ ओरियण्टल ऐण्ड अफ्रीकन स्टडीज, भाग 16, पृष्ठ 421

38- एच० लूडर्स, तत्रैव पृष्ठ 137

39- दिव्यावदान (कावेल द्वारा सम्पादित), पृष्ठ 580/5

40- हरिपद चक्रवर्त्ती, तत्रैव पृष्ठ 69

41- बी०एन० मुखर्जी, तत्रैव, पृष्ठ 43, टिप्पणी ।

42- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 2, पृष्ठ 208

43- कोष्ठ में लिखा हुआ "देव" शब्द अनुमानित पाठ है । मूल शब्द अभिलेख में सुरक्षित नहीं है ।

44- मूल अभिलेख में अंकित शब्द "गिवसेनस्य" है, जो अभिलेख-शिल्पी की असावधानी के कारण "शिवसेनस्य" का भ्रामक पाठ है । वस्तुस्थिति को

निम्नोक्त तालिका के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है ।

अभिलेख संख्या 34, एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 2, पृष्ठ 208

शिवदेवस्य : [illegible] :शब्द में "शि" का सही उट्टंकन हुआ है

शिवसेनस्य : [illegible] : अभिलेख-शिल्पी पहली आकृति में अन्तर्वर्त्ती डैश उट्टंकित करना भूल गया है ।

शिवसेनस्य : [illegible] :मूल शब्द अभीष्ट उट्टंकन इसी रूप में अपेक्षित था ।

45- देवसेन शब्द अप्रत्यक्षतः स्कन्द कार्तिकेय की पत्नी देवसेना का अभिव्यंजक है, जिन्हें परम्परया शैवधर्म के देवमण्डल में सम्मिलित किया जाता है ।

46- एपिग्राफिया इण्डिका भाग 2, पृष्ठ 207, अभिलेख संख्या 3।

47- तत्रैव

48- जे०एस० नेगी, सम इण्डोलाजिकल स्टडीज़, फलक संख्या 3/।

49- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 28, पृष्ठ 159

50- तत्रैव पृष्ठांक 158-160

51- तत्रैव

52- तत्रैव, पृष्ठ 160, टिप्पणी ।

53- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 1, पृष्ठांक 37 तथा अनुवर्ती पृष्ठ

54- आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया {रिपोर्ट}, भाग 10, पृष्ठांक 159 तथा अनुवर्ती पृष्ठ

55- लूडर्स, तत्रैव पृष्ठांक 61-63

56- द्रष्टव्य एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 1, पृष्ठांक 57 तथा, अनुवर्ती पृष्ठ एवं आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया (रिपोर्ट), भाग 10, पृष्ठांक 159 तथा अनुवर्त्ती पृष्ठ

57- हरिवंश, 1.168.17

58- बी०एन०पुरी, इण्डिया अण्डर दि कुषाणाज, पृष्ठ 89

59- शिवेश चन्द्र भट्टाचार्य सम ऐस्पेक्ट्स आफ इण्डियन सोसाइटी पृष्ठ 78; निजिन्दपन्ह पृष्ठ 31

60- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 2 पृष्ठांक 197 एवं 207

61- शिवेश चन्द्र भट्टाचार्य, तत्रैव पृष्ठ 153

62- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 1, पृष्ठांक 371 तथा अनुवर्ती पृष्ठ

63- बी०एन० मुखर्जी, तत्रैव पृष्ठ 36

64- बी०एन० पुरी, तत्रैव पृष्ठ 107

65- शिवेश चन्द्र भट्टाचार्य, तत्रैव पृष्ठ 78

66- द्रष्टव्य टिप्पणी 48

67- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 31, पृष्ठ 180

67 अ- आर०एस० शर्मा, शूद्राज इन एंशेण्ट इण्डिया, पृष्ठांक 179 तथा अनुवर्ती पृष्ठ

68- आर०पी० कांगले, दि कौटिल्य अर्थशास्त्र-ए स्टडी, भाग 3, पृष्ठ 166

69- शिवेश चन्द्र भट्टाचार्य, तत्रैव पृष्ठ 143

70- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 1, पृष्ठ 383

71- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 10, पृष्ठ 118

72 एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 2, पृष्ठ 196

73- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 2, पृष्ठ 88, टिप्पणी 6

74- बौधायन गृह्यशेष सूत्र 1, 11, 10
विष्णुपुराण, 3, 10, 9

75- आर०एस० शर्मा, तत्रैव पृष्ठांक 69 तथा अनुवर्ती पृष्ठ
शिबेश चन्द्र भट्टाचार्य, तत्रैव पृष्ठ 164

76- शिबेश चन्द्र भट्टाचार्य, तत्रैव पृष्ठ 165, "राजवल्लभ" शब्द की व्याख्या के लिये द्रष्टव्य बी०एस०अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ 223

77- वी० एस० अग्रवाल, तत्रैव पृष्ठ 223

78- एच०लूडर्स, तत्रैव पृष्ठ 123

79- तत्रैव

80- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 19, पृष्ठ 66

81 लूडर्स, तत्रैव पृष्ठ 111

82- तत्रैव

83- बी०एस०अग्रवाल जर्नल आफ यू०पी० हिस्टारिकल सोसाइटी, जुलाई 1937, पृष्ठांक 1-7

84- बी०एस० अग्रवाल, इण्डिया ऐज़ नोन टु पाणिनि, पृष्ठ 229

85- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 2, पृष्ठ 203, अभिलेख संख्या 16

86- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 1, पृष्ठ 391

87- शिबेश चन्द्र भट्टाचार्य, तत्रैव पृष्ठ 141

88- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 10, एपेण्डिक्स, पृष्ठ 11

89- मनुस्मृति, 4·215

90- एच लूडर्स, तत्रैव पृष्ठ 169

91- एपिग्राफिका इण्डिका, भाग 19, पृष्ठ 66

92- बी0एन0पुरी, तत्रैव पृष्ठ 89

93- डी0आर0पाटिल, कलचरल हिस्ट्री फ्राम दि वायुपुराण, पृष्ठांक 37-38

94- बी0 एन पुरी, तत्रैव पृष्ठ 83

95- तत्रैव पृष्ठ 89

96-हरिपद चक्रवर्ती, तत्रैव पृष्ठ 31

97- पृष्ठ 388 अभिलेख संख्या। 11

98- पृष्ठ 95

99- पृष्ठ 209

100- पृष्ठ 121

101- पृष्ठ 390

102- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 1, पृष्ठांक 240-41

103- पृष्ठ 390

104- पृष्ठांक 371 तथा अनुवर्ती पृष्ठ

104- पृष्ठांक 371 तथा अनुवर्ती पृष्ठ

105- बी0एम0 पुरी, तत्रैव पृष्ठांक 90-91

106- हरिपद चक्रवर्ती, तत्रैव पृष्ठ 31

107- पृष्ठ 381

108- पृष्ठ 388

109- जायापत्योर्न विभागो विद्यते । पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु
आपस्तम्ब धर्मसूत्र II·6·13·16-17

110- उदाहरणार्थ,एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 1,पृष्ठ 384, अभिलेख संख्या5:
पृष्ठ 385, अभिलेख संख्या 6; भाग 2, पृष्ठ 203,अभिलेख संख्या 16;
पृष्ठ 210 अभिलेख संख्या 39; एच लूडर्स, मथुरा इंसक्रिप्शंस,
पृष्ठ 187, अभिलेख संख्या 150)

111- एच लूडर्स, तत्रैव,पृष्ठ 187

112- ए0एस0 अलटेकर, दि पोजीशन आफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन,
पृष्ठांक 179 तथा अनुवर्ती पृष्ठ

113- ऋग्वेद, 1·66·3; महाभारत क्रिटिकल एडिशन, पूना" अध्याय 113

114- ऋग्वेद, 3,5,3,4

115- अथर्ववेद, 14·1·43

116- पृष्ठ 121, अभिलेख संख्या 19

117- अनावृता: किल पुरा स्त्रिय आसन् वराननें ।
कामचारविहारिण्य: स्वतंत्राश्चारुहासिनि ।।
तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात्सुभगे पतीन् ।
नाधर्मोऽभूद्वरारोहे स हि धर्म: पुरा भवत् ।।

महाभारत, 1·128·4-5 (कुम्भकोनंसंस्करण, द्रष्टव्य, अनन्त
सदाशिव अलटेकर, दि पोज़ीशन आफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइज़ेशन,
पृष्ठ 30)

118- उदाहरणार्थ द्रष्टव्य एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 10, पृष्ठ 119,

अभिलेख संख्या 14, पृष्ठ 120, अभिलेख-संख्या 17; भाग 2, पृष्ठ 207, अभिलेख संख्या 31 एवं 32; एच0लूडर्स, मथुरा इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ 19, अभिलेख संख्या 49; पृष्ठ 117, अभिलेख संख्या 81, पृष्ठ 163, अभिलेख संख्या 123

119- महाभारत (क्रिटिकल एडिशन, पूना) 20·272·37

120 तत्रैव 1,374·73

121- पत्युर्नो यज्ञसंयोगे, अष्टाध्यायी, 4,1·33

122- अपत्नीक: कथमग्निहोत्रं जुहोति, ऐतरेय ब्राह्मण, 7·9-10

123- मार्गे मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् । रघुवंश, सर्ग 2, श्लोक संख्या 2/2

124- एम0आर0 काले; रघुवंश-अनुवाद

125- पतिं धर्मरतं पत्नी साध्वी शुश्रूते तु या ।

नित्यं त्वत्रन्हृदया धर्मपत्नी तां विदु: ।।

मल्लिनाथ भाष्य

126- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 24, पृष्ठांक 200 तथा अनुवर्ती पृष्ठ

127- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 2, पृष्ठ 205; एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 1, पृष्ठ 385

128- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 24, पृष्ठांक 195-96

129- हरिपद चक्रवर्ती, तत्रैव पृष्ठ 30

130- तत्रैव

131- पृष्ठ 383

132- हरिपद चक्रवर्ती, तत्रैव पृष्ठ 30

133- बी0एन0 पुरी, तत्रैव पृष्ठ 88

134- बी0एन0 मुखर्जी, मथुरा ऐण्ड इट्स सोसाइटी, पृष्ठ 126

135- जे0एस0 नेगी, कुषाण स्टडीज़, पृष्ठ 46

136- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 24, पृष्ठांक 210 तथा अनुवर्ती पृष्ठ

137- जे0एस0 नेगी, तत्रैव पृष्ठ 60

138- एच0 लूडर्स, तत्रैव पृष्ठ 116

139- तत्रैव पृष्ठ 187

140- पृष्ठ 390

141- वी0एस0 अग्रवाल द्वारा उद्धृत, तत्रैव पृष्ठ 330

142- पृष्ठ 200

143- पृष्ठ 391

144- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 1, पृष्ठ 392

145- बी0एन0 मुखर्जी, तत्रैव 189-90

146- डी0सी0 सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शस, भाग 1, पृष्ठांक 150 तथा अनुवर्ती

147- बी0एन0 पुरी, तत्रैव पृष्ठ 97

आर्थिक तत्त्व

आलोचित कालावधि के आर्थिक पक्ष की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है पूर्वी एवं पश्चिमी विश्व में परस्पर व्यापारिक सम्पर्क का सन्तुलन है। इस सम्पर्क एवं सन्तुलन को नियमित एवं कार्यान्वित करने में दो प्रवृत्तियों का विशेष योगदान था। एक तो भारतीय खनिज की समृद्धि, जिसका व्यापारिक क्रिया-कलाप को गतिशील बनाने के लिये समुचित उपयोग किया जा सकता था। दूसरे राजनीतिक दिशा में भारतीयों का प्रभावी होना एवं राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय संस्कृति के अन्तर्निगूढ़ तत्वों को प्रसरणशीलता के लिये अनुकूल बनाना। इस सन्दर्भ में प्लिनी की सूचना उल्लेखनीय है, जिसने भारत को बहुमूल्य रत्नों का ऐकान्तिक एवं एकमात्र स्रोत माना है, तथा रोम में भारत से ऐसे रत्नों के निर्यात को प्रसंगति भी किया है।[1] मौद्रिक साक्ष्यों से यह प्रायः पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि, लगभग 30 ईसा पूर्व से लेकर लगभग 550 ईस्वी तक भारत एवं रोम में वाणिज्य-परक एवं व्यापार-परक सम्पर्क बना हुआ था। इस सन्दर्भ में उन रोमन सिक्कों का सविशेष उल्लेख किया जा सकता है, जो दक्षिण भारत के विभिन्न स्थानों से सर्वेक्षित एवं उत्खनित हुये हैं, तथा जो इस सम्भावना के पुरातात्विक संकेतक हैं कि लगभग 61 ईस्वी तक (आगस्टस के राज्यकाल से लेकर नीरो के राज्य-काल तक) भारत एवं रोम का व्यापारिक सम्बन्ध परस्पर चरम अवस्था को पहुँच चुका था।[2] ऐसे साक्ष्यों का उद्घाटन भी हो चुका है, जो यह स्पष्ट कर देते हैं कि उत्तर भारत उस भारतेतर पश्चिमोत्तर भाग से सम्बन्धित था, जिसे रेशम-मार्ग की संज्ञा देते हैं, तथा जो भारत, चीन

और रोम के रेशम-व्यापार को नियमित करता था । बौद्ध साहित्य के सांस्कृतिक अनुशीलन से ऐसा भी स्पष्ट हो जाता है कि वाराणसी को रेशमी व्यापार का एक प्रमुख केन्द्र माना जाता था । यहाँ व्यापारियों का कारवाँ उत्तर-पश्चिमी भारत के मार्ग पर बराबर व्यस्त रहता था । आलोचित कालावधि से सम्बन्धित मथुरा से ऐसे अनेक अभिलेख उपलब्ध हो चुके हैं, जिनमें एक महत्वपूर्ण शब्द वकनपति अथवा बकनपति सन्दर्भित हुआ है, जो ऐसी सम्भावना का संज्ञापक हैं कि पश्चिमी एशिया में स्थित वेखन नामक स्थान के व्यापारी बहुधा मथुरा आते थे, तथा धार्मिक कृत्यों के साथ-साथ ये लोग व्यापारिक वस्तुओं का भी आदान-प्रदान करते थे ।

साहित्यिक साक्ष्य से ऐसा भी ज्ञात होता है कि व्यापारिक दृष्टि से भारत का वह विशेष भाग जिसे निम्न सैन्धव क्षेत्र की संज्ञा दी जाती है, बाहरी देशों से सम्बन्धित था । ऐसी सूचना मिलिन्दपन्ह से प्राप्त होती है[3] जिसकी रचना का समय ईस्वी संवत् का प्रारम्भ माना जाता है ।[4] कथित ग्रन्थ के सम्बन्धित स्थल में एक ऐसे समृद्ध व्यापारी को प्रसंगित किया गया है, जो वंग (दक्षिणी बंगाल), तक्कोल (मलाया के उत्तर-पश्चिमी तट पर स्थित), चीन, सुरट्ठ (सौराष्ट्र-दक्षिणी काठियावाड़), सोवीर (सौवीर-सैन्धव क्षेत्र का निचला हिस्सा), अलसन्द (सिकन्दरिया), तथा कोलपट्टन (मलाया के उत्तर-पूर्वी तट पर स्थित) जैसे स्थानों की यात्रा निरन्तर अपनी महा-नौका से किया करता था । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम शताब्दी ईस्वी के प्रारम्भिक दशकों में भारतीय व्यापारी समुद्र के माध्यम से तत्कालीन समृद्ध देशों के साथ अपना वाणिज्य-परक सम्बन्ध बनाये हुये थे । मिलिन्दपन्ह

की उक्त सूचना पेरिप्लस के लेखक के विवरण से समर्थित हो जाती है । यह व्यक्ति यूनान का नागरिक था, तथा मिश्र में रहा करता था । ऐसा लगता है कि जिस समय रोम का व्यापार अपने चरमोत्कर्ष पर था, यह अज्ञात लेखक भारत-रोम व्यापार में सक्रिय हिस्सा ले रहा था । बी0एन0 मुखर्जी[5] के अनुसार यह व्यक्ति सम्भवत: सीथिया एवं सैन्धव क्षेत्र के निचले हिस्से से व्यक्तिगत रूप में परिचित था । उसकी सूचना के अनुसार महानौकाओं का सन्तरण अरब सागर के दक्षिण तट पर स्थित कन से प्रारम्भ होता था । इसके बाद ये महानौकाएँ बैरीगाजा (भृगुकच्छ) और सीथिया आकर तीन दिनों से अधिक रुकी रहती थीं । मानसून की स्थिति अनुकूल होने पर ये महानौकाएँ विभिन्न दिशाओं की ओर प्रयाण करती थीं ।

आलोचित कालावधि, उत्तर एवं उत्तर-पश्चिमी भारत में नगरीकरण के विकास का चरमोत्कर्ष माना जाता है । इस प्रक्रिया में जितने तथ्यों का योगदान था, उनमें शिल्प के विकास का प्रमुख स्थान था । इस सन्दर्भ में आर0एस0 शर्मा ने हमारा ध्यान मथुरा के उत्खनित भवनों की ओर आकर्षित किया है, जिनसे यह सुव्यक्त हो जाता है कि वास्तु-कला में नवीन एवं विकसित शिल्प-विधियों का पद-प्रक्षेप हो चुका था ।[6] यह स्मरणीय है कि उक्त आशय के साक्ष्य तत्कालीन अभिलेखों से भी संज्ञापित होते हैं । इसके अतिरिक्त प्रस्तुत सन्दर्भ में अध्ययन एवं अनुशीलन का संज्ञापन इस कालावधि के व्यापारिक केन्द्रों एवं नगरों के द्वारा भी सन्तोष-जनक रूप

में होता है । जिसे आधुनिक काल में हिन्द-पाक उपमहाद्वीप की संज्ञा दी जाती है, वहाँ पुराने नगरों की समृद्धि में गतिशीलता आई, तथा इसके साथ-साथ नये नगरों का विन्यास एवं निर्मापन हुआ । ऐसी स्थिति न केवल हिन्द-पाक उपमहाद्वीप में ही थी अपितु इसकी समस्तरीय स्थिति के प्रमापक साक्ष्य उन देशों से भी प्राप्त हुये हैं जिनमें अफगानिस्तान, ईरान तथा सोवियत मध्य एशिया को भी सम्मिलित किया जा सकता है । इनमें कुछ स्थान उस व्यापारिक मार्ग पर पड़ते थे जो पर्वतीय दर्रों से होते हुये पश्चिम और उत्तर की ओर जाता था, तथा जिनके नियंत्रण में भूमि-सम्बन्धी साधन थे । सामयिक साहित्य में सन्दर्भित स्थलों के अनुशीलन से ऐसा निष्कर्ष निकाला गया है कि ये नगर शिल्प एवं वाणिज्य-व्यापार के केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे, तथा जन-संख्या के अधिकांश की आजीविका इन्हीं नगरों के शिल्प पर आधारित थी । बहुधा ऐसी जीविका के स्रोत राज्य अथवा समृद्ध व्यापारी भी होते थे ।[7] इस सन्दर्भ में अंगविज्जा के एक विशेष स्थल को प्रसंगित किया जाता है, जिसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के शिल्पों एवं उद्योग-धन्धों का उल्लेख मिलता है । इनमें अधिकांश का सम्बन्ध नागरीय आर्थिक गठन से प्रतीत होता है ।[8] ऐसा निष्कर्ष निकाला गया है कि सम्भवतः इनमें ऐसे नगर भी सम्मिलित थे, जिन्हें कुषाण नरेशों ने सन्निवेशित कराया था । ऐसे आशय के निदर्शक साक्ष्य कल्हण-कृत राजतरंगिणी में उपलब्ध होते हैं, जिसके अनुसार हुक, जुष्क एवं कनिष्क नामक तीन "तुरुष्क" नरेशों ने क्रमशः हुष्कपुर, जुष्कपुर एवं कनिष्कपुर नामक नगरों को बसाया था । इसमें सन्देह नहीं कि

कथित स्थल में "तुरूष्क" का तात्पर्य कुषाणों से है, तथा हुष्क, जुष्क और कनिष्क, क्रमश: कुषाण-शासक हुविष्क, वासिष्क और कनिष्क प्रथम के सन्निदर्शक माने जा सकते हैं । राजतरंगिणी में प्रसंगित इन नगरों को समीकृत करने का भी प्रयास किया गया है । ये तीनों नगर हुष्कपुर, जुष्कपुर एवं कनिष्कपुर क्रमश: आधुनिक उष्कुर (नरहमुल्ला के दर्रे में स्थित), जुकुर (श्रीनगर के उत्तरी दिशा में स्थित) तथा कनिस्पोर (बरहमुल्ला एवं श्रीनगर के मध्यवर्ती क्षेत्र में स्थित) के प्राचीन एवं मौलिक नाम माने गये हैं । ऐसी स्थापना की गई है कि यद्यपि इन तीनों स्थानों का व्यवस्थित पद्धति के अनुसार अभी तक उत्खनन नहीं किया गया है, तथापि कश्मीर एवं जम्मू की घाटी के सर्वेक्षण-शोधों से जो मृण्मयी मूर्तियाँ एवं मृद्भाण्ड उपलब्ध हुये हैं तथा भवनों के जो अवशेष हरवान से प्राप्त हुये हैं, उनसे इन प्राचीन नगरों की स्थिति की सम्भावना प्राय: सत्यापित हो जाती है ।[9] ऐसा भी प्रस्तावित किया गया है कि इस काल के सभी नगरों को उनके स्वरूप एवं प्रकार की दृष्टि से समस्तरीय नहीं माना जा सकता है । इनमें परस्पर-भिन्न कोटि के नगर थे-जैसे राजधानी के द्योतक नगर, वाणिज्य के केन्द्र, हाटक के केन्द्र, व्यापारिक बन्दरगाह । इनमें शिक्षा एवं धर्म के केन्द्रों को भी सम्मिलित किया जा सकता है ।[10] उक्त सुझाव को सर्वथा दोष-रहित नहीं माना जा सकता है । वस्तुत: इस कालावधि से सम्बन्धित नगरों के वास्तविक स्वरूप को निश्चित नहीं किया जा सकता है । उदाहरण के लिये मथुरा को ही प्रसंगित कर सकते हैं । यह नगर कुषाण नरेशों की पूर्वी राजधानी के रूप में प्रतिष्ठित था । कुषाण-

काल का ही यह एक व्यावसायिक नगर था । इसके अतिरिक्त यह आलोचित काल का एक विश्रुत धार्मिक केन्द्र था, जहाँ से प्रचुर संख्या में दान-सन्दर्भक अभिलेख प्राप्त हुये हैं जिसके आधार पर नगर में, विशेषतया बौद्ध एवं जैन धर्मों से सम्बन्धित अतिव्यस्त एवं सघन क्रिया-कलाप का अनुमान लगाया जा सकता है ।

सम्भवतः यह सुझाव नितान्त औचित्य-पूर्ण है कि आलोचित के कालावधि के आर्थिक पहलू पर मुद्रा-नीति में संशोधन एवं समुन्नति का सविशेष प्रभाव पड़ा था । यद्यपि भारतीय मुद्रा-नीति में सुवर्ण सिक्कों का पद-प्रक्षेप हिन्द-यवनों के कारण हुआ था, तथापि इसे एक व्यापक पैमाने पर लाना एवं उसके आयाम की सीमा को सुदृढ़ करने का श्रेय कुषाण-शासकों को दिया जा सकता है । इस काल की विश्वजनीन आर्थिक घटक की स्थिति की विशेषता थी कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में रोम के सुवर्ण-सिक्कों ने अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था । ऐसी स्थिति में, सामान्यतया अपनी आर्थिक नीति को संगठित करने के लिये, तथा विशेषतया अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर रोमन सुवर्ण-मुद्राओं की प्रतिस्पर्द्धा में कुषाणों को सुवर्ण-मुद्राओं को भारी संख्या में जारी किया जाना एक तात्कालिक आवश्यकता बन गई थी ।[11] मुद्रा-शास्त्रियों की समीक्षा के अनुसार रोमन AUREI तथा कुषाणों की सुवर्ण-मुद्राओं में कई-एक समानताएँ दिखाई देती हैं । कुषाणों के इस सुधारात्मक प्रयास के बावजूद कुषाण-साम्राज्य एवं रोम-साम्राज्य की सीमाओं के बाहर, कुषाणों की सुवर्ण-मुद्राएँ रोमन सुवर्ण-मुद्राओं से होड़ नहीं

ले सकें । भारत में जो रोमन सुवर्ण-मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, उनमें अधिकांश की समीक्षा से यह व्यक्त हो जाता है कि उन्हें पुनरांकन के द्वारा सम्राट् की आकृति को विद्रूप करने का प्रयास किया गया है । आलोचित कालावधि के आर्थिक पहलू के कौन-से विशेष तत्व को ध्यान में रखकर ऐसा किया गया, इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता है । इस सन्दर्भ में सर मार्टीमर व्हीलर ने ऐसा अनुमान लगाया है कि सम्भवत: कुषाणों ने रोमन मुद्राओं की मुद्रापरकता को रोकने के लिये ऐसा प्रयास किया था । सम्भवत: कुषाण-नरेश ऐसा चाहते थे कि उनकी राज्य-सीमा पर इनका व्यवहार मुद्रा के रूप में न हो, तथा उनकी विद्रूपता के परिणाम में उन्हें केवल बुलियन अथवा आभूषण के रूप में उनका व्यवहार हो सकता था ।[12] वास्तविक स्थिति जो कुछ रही हो, किन्तु ऐसी सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि कुषाण-मुद्राओं को उस स्तर पर गौरवान्वित स्थान मिला जब कि कुषाण-साम्राज्य का विस्तार हुआ, जब कि कुषाणों की लोकप्रियता सार्वजनीन बनी, तथा जब कि कुषाणों ने व्यापारिक स्तर पर प्राची एवं प्रतीची दिशाओं में अपनी सम्प्रभुता एवं सम्पर्क-सन्निकर्ष को घनीभूत बना लिया था । ऐसी सम्भावना को स्वीकार करने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है कि कुषाणों ने रोमन मुद्राओं की अनुकृति में अपनी सुवर्ण-मुद्राओं को केवल निर्यात-विषयक वैदेशिक व्यापार की दृष्टि से चलाया था । इसमें सन्देह नहीं है कि, इस प्रयास-प्रक्रिया के परिणाम में तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कुषाण कालीन आर्थिक घटक को संवर्द्धित होने का सुयोग प्राप्त

हुआ था । जब कि कुषाणों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सुवर्ण-मुद्राओं को विनिमय का माध्यम बनाया था, राष्ट्रीय स्तर पर सार्वजनीन सुविधा एवं व्यापार-विषयक सुगमता के लिये इन्होंने ताम्र-मुद्राओं को जारी किया था । ऐसी ताम्र-मुद्राएँ भारत के विभिन्न भागों से उपलब्ध हुई हैं, जिनमें पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल एवं उड़ीसा को सम्मिलित किया जा सकता है । प्रचुर संख्या में उपलब्धि के अतिरिक्त, इन कुषाणकालीन ताम्र-मुद्राओं पर कुषाणों का नामांकन काडफिसीज प्रथम से लेकर किदर कुषाणों तक प्राप्त होता है । ऐसी स्थिति में यह समीचीन निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि, इतनी लंबी अवधि तक इनका प्रचलन एवं इतने विस्तृत भूक्षेत्र में इनका प्रसारण इस तथ्य को सत्यापित कर देता है कि आलोचित कालावधि में मुद्रा-सापेक्ष आर्थिक गठन दृढ़ीभूत हो चुका था, तथा परिणामस्वरूप ऐसे अनेक केन्द्रों का विकास हुआ जिन्हें व्यापारिक नगर की संज्ञा प्रदान की जा सकती है ।

प्रस्तुत सन्दर्भ में एक स्वाभाविक पृच्छा प्रस्तावित की गई है कि आलोचित कालावधि को प्रकाशित करने वाले जितने अभिलेख उपलब्ध हुये हैं, वे अनेकधा एवं अनेकशः किसी धार्मिक अनुदान का ही सन्दर्भण करते हैं, तो क्या ऐसी स्थिति में इन्हें तत्कालीन आर्थिक गठन के मूल्यांकन का आधारभूत मानने में कठिनाई प्रतीत होती है ।[13] इस पृच्छा-परक सुझाव को सर्वांशतः स्वीकार नहीं किया जा सकता है । ऐसे अनेक ब्राह्मी एवं खरोष्ठी के अभिलेख प्राप्त हो चुके हैं जिनका स्वरूप धार्मिक अवश्य है किन्तु इनमें सार्वजनिक

हित के कृत्यों का भी उल्लेख मिलता है । ये अभिलेख कभी तो तत्कालीन नरेशों को सन्दर्भित करते हैं अथवा बहुधा इनमें शासक का नामांकन नहीं भी रहता है । किन्तु इनमें दानकर्त्ता द्वारा सम्पन्न किये हुये तटाक-निमार्ण उपवन-निमार्ण अथवा आराम-निमार्ण जैसे कृत्यों को कर्षण, वृक्षारोपण आदि का संज्ञापक माना जा सकता है । इन्हें तत्कालीन आर्थिक घटक का अपरिहार्य अंग स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं दिखाई देती है । इन अभिलेखों दानकर्ताओं द्वारा "प्रावारिक-विहार", "सौवर्णिक-विहार", "काष्ठकीय-विहार" जैसे शब्दों का सन्दर्भण प्रत्यक्षत: धार्मिक कृत्य का ही संज्ञापक माना जा सकता है, किन्तु अप्रत्यक्षत: इनसे प्रावारकों, सुवर्णकारों एवं काष्ठकारों के तत्कालीन क्रिया-कलाप पर प्रकाश पड़ता है जो तत्कालीन आर्थिक गठन के मूल्यांकन के लिये अधिक महत्वपूर्ण हैं । प्रस्तुत विषय पर परिच्छेदान्तर में सविस्तार विवेचन किया जाएगा। यहाँ केवल इतना ही कहा जा सकता है कि दान-सन्दर्भक तत्कालीन अभिलेख आर्थिक गठन के अनुशीलन के लिये अनुपादेय नहीं माने जा सकते हैं ।

सम्भवत: आलोचित कालावधि में मानसून की खोज हुई, जिसका तत्कालीन सामुद्रिक गतिविधि पर सविशेष प्रभाव माना जा सकता है । इसकी सहायता से भारत और भूमध्य सागरीय विश्व के मध्य सामुद्रिक व्यापार के सन्दर्भ में काफी सहायता मिल सकी थी । पेरिप्लस के साक्ष्य के आधार पर ऐसा निष्कर्ष निकाला गया है कि, मानसून की खोज हिप्पलस ने ~~किया~~ किया था । यही सूचना प्लिनी के विवरण से भी प्राप्त होती है ।[14] जहाँ तक हिप्पलस के समय का प्रश्न है, कोर्नेमन का सुझाव है कि इसे मिस्र

के टालमी-युग के उत्तरवर्ती चरण में अर्थात् रोम के आगस्टस-काल के काफी पहले रखा जा सकता है। दक्षिण भारत के अरिकमेडु आदि रोमन व्यापारिक केन्द्रों के सन्दर्भ में यह कह सकते हैं कि भारत का पश्चिमी देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध समुन्नत अवस्था में था, अर्थात् प्रकारान्तर से यह कह सकते हैं कि तत्कालीन भारतीय व्यापारी मानसून की जलयान-सन्तरण सम्बन्धी उपयोगिता से परिचित थे, तथा अपने व्यापारिक क्रिया-कलाप को इसकी सहायता से कार्यान्वित भी करते थे। उक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुये मार्टीमर व्हीलर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मानसून को आगस्टस के शासन के अन्तिम चरण (लगभग 14 ईस्वी) में पूर्णतया उपयोग में लाया जाता था।[15] इस प्रसंग में ई०एच० वार्मिंगटन का सुझाव है कि प्रस्तुत खोज के परिणाम में दक्षिण भारतीयों को सामुद्रिक व्यापार को सफल बनाने में पर्याप्त सफलता मिली, जिससे उन्होंने भारतीय व्यापारोचित सामानों को कई माध्यमों से रोम में निर्यातित किया था।[16] बी०एन० मुखर्जी के अनुसार मानसून की खोज के उपरान्त रोमन व्यापारियों को सिन्धु क्षेत्र के निचले भाग से सम्पर्क बनाने में अब लम्बी यात्रा नहीं करनी पड़ती थी, अतएव पहले की अपेक्षा उनका गमन-प्रत्यागमन बार-बार होने लगा था।[17] उक्त क्षेत्र कुषाण-सत्ता के अन्तर्गत था, अतएव कुषाणकालीन आर्थिक स्थिति पर इसका सर्वथा अनुकूल प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

आलोचित कालावधि के आर्थिक गठन की उक्त पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में मथुरा एवं कौशाम्बी के ब्राह्मी अभिलेखों से अभिव्यज्यमान आर्थिक गठन के

जिन पक्षों का प्रकाशन होता है, उनमें सर्वप्रथम भारत एवं भारतेतर देशों में व्यापारिक सम्पर्क को संस्थापित करने वाले पुराभिलेखों की समीक्षा की जा सकती है। तत्कालीन अभिलेख यह स्पष्ट कर देते हैं कि व्यापारी अथवा सामान्य यात्री अथवा राजकर्मचारी प्राय: भारतीय नगरों एवं व्यापारिक केन्द्रों के सम्पर्क-हेतु अथवा धार्मिक परिवेश के दर्शनार्थ आया करते थे। इनमें सबसे महत्वपूर्ण वह अभिलेख है, जिसकी चर्चा प्रसंगान्तर में की जा चुकी है, जो मथुरा से उपलब्ध हुआ था, जिसमें हुविष्क तथा वर्ष 28 सन्दर्भित है। प्रस्तुत विवेचन के लिये नितान्त अनुकूल अभिलेखांकित शब्द "वकनपति" है। इसी शब्द का पाठान्तर "बकनपति" शब्द मथुरा में माट नामक स्थान से उपलब्ध उस अभिलेख में सन्दर्भित है, जो कुषाणपुत्र शाहि वेमा तक्षुप को प्रसंगित करता है।[19] जैसा कि परिच्छेदान्तर में दिखाया गया है, बकनपति शब्द को विद्वानों ने प्राय: विवाद का विषय बनाया है। डॉ०सी० सरकार ने अपनी पूर्वकालीन समीक्षा में इसका अर्थ मध्य एशिया में स्थित वेखन नामक स्थान का निवासी माना था, किन्तु आगे चलकर एच० डब्लू बेली के मत के साथ सहमति प्रकट करते हुये इस शब्द का अर्थ शब्द ईरानी उत्पत्ति के सन्दर्भ में देवालय का पर्यवेक्षक राजकर्मचारी माना था।[20] किन्तु स्टेनकोनों,[21] लूडर्स[22] एवं वी०एस० अग्रवाल[23] ने इसका अर्थ वेखन का निवासी ही माना है। भारत एवं भारतेतर पश्चिमी देशों में परस्पर व्यापार-विषयक सम्पर्क की सम्भावना को सत्यापित करने वाले इन पुराभिलेखिक साक्ष्यों के अनुमोदन में समुत्खनन-विषयक अन्य पुरातात्त्विक साक्ष्यों को भी

उदाहृत किया जा सकता है । मार्टीमर व्हीलर ने अफगानिस्तान में स्थित बेग्राम के उत्खनन से उपलब्ध ऐसे अनेक अस्थि-निर्मित एवं हाथी दाँत-निर्मित फलकों को प्रकाशित किया है जो भारत से निर्मित प्रतीत होते हैं ।[24] बी०एन० मुखर्जी ने कौशाम्बी के ऐसे मृद्भाण्डों को उदाहृत किया है, जिनकी समानता मध्य एशिया की यायावर जातियों द्वारा प्रयुक्त मृद्भाण्डों से दिखाई देती है ।[25] मुखर्जी ने उत्तर भारत के विभिन्न स्थानों से उपलब्ध ऐसी अनेक मृण्मयी मूर्तियों को सन्दर्भित किया है, जिनकी समानता मध्य एशिया के विभिन्न पार्थियन केन्द्रों की मृण्मयी मूर्तियों से दिखाई देती है ।[26] इसी प्रकार उत्तर भारत के विभिन्न स्थानों से ऐसी मृण्मयी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनकी मुखाकृतियाँ वेश-भूषा एवं वस्त्रों से वैदेशिक प्रवृत्तियाँ प्रतिभासित होती हैं ।

ऐसी स्थिति में उक्त पुराभिलेखांकन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आलोचित कालावधि के कुषाण कालीन स्तर पर भारत और मध्य एशिया का परस्पर व्यापारिक सम्पर्क अवश्य स्थापित था ।

आलोचित कालावधि से सम्बन्धित मथुरा एवं कौशाम्बी, इन दोनों केन्द्रों से उपलब्ध साक्ष्य इस सम्भावना को सन्देह-रहित कर देते हैं कि समाज में विभिन्न व्यवसायों एवं उद्योग-धन्धों का अनुसरण किया जा रहा था जिनका तत्कालीन आर्थिक संघटना के स्वरूप-निर्धारण एवं गतिनिर्देशन में महत्वपूर्ण योगदान था । इसके अतिरिक्त तत्कालीन अभिलेखों में निरूपित

गन्धिक[27] सुवर्णकार[28] शैलालक,[29] प्रावारिक[30] आदि ऐसे शब्द हैं, जो इन व्यवसायों से सम्बन्धित वर्ग-गत विशेषताओं पर यथेष्ठ प्रकाश भी डालते हैं। ऐसी स्थापना की गई है कि इन व्यवसायों के स्वरूप से यही पता चलता है कि इनका अस्तित्व एवं प्रचलन नागरिक केन्द्रों में ही सम्भव था इसके विपरीत कृषि, पशुपालन तथा भूमि से सम्बन्धित अन्य लघु व्यवसायों का स्वरूप ऐसा था कि वे ग्रामीण केन्द्रों में पनप सकते थे। इसके साथ साथ ऐसा भी निष्कर्ष निकाला गया है कि इनके फैलाव को पर्याप्त अवकाश नहीं था, तथा ये केवल स्थानीय बाज़ारों में ही खप सकते थे। इनके सीमित क्षेत्र में खपत होने का ऐसा भी कारण माना गया है कि ग्रामीण शिल्पियों में वह कला कुशलता नहीं थी जो नगर शिल्पियों में हुआ करती थी।[31] उक्त सुझाव को सर्वथा अथवा सर्वांशतः स्वीकार करने में कठिनाई दिखाई देती है। जहाँ तक उपलब्ध अभिलेखों का प्रश्न है, इनकी सूचना से यही अभिव्यक्त होता है कि ग्रामीण आर्थिक गठन एवं नागरिक आर्थिक गठन में अन्तर को संज्ञापित करने वाली कोई विभाजकरेखा नहीं खींची जा सकती थी प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करने वाले अभिलेखांकित शब्द हैं; लोहिकाकारक, लोहिकारक, लोहकारूक, लोहवाणिय तथा वढकि। इसमें सन्देह नहीं कि लोह-उपकरणों एवं काष्ठ-उपकरणों की प्राथमिक उपयोगिता कृषि-कार्य में थी, तथा इस प्रकार इनका सम्बन्ध ग्रामीण आर्थिक गठन से था। इन्हें प्रधानतया ग्रामीण भण्डारों में संचित भी किया जाता होगा। अभिलेखों में लोहकारूक शब्द का वैकल्पिक लोहवाणिय शब्द ऐसी सम्भावना का संज्ञापक

है कि सम्बन्धित उपकरणों का विक्रय लौहवणिक (लौह-व्यापारी) नगरों में भी करता होगा। अतएव ग्राम-शिल्पी और नगर-शिल्पी की कलाकुशलता की भिन्नता अथवा वरीयता अथवा कौशल-हीनता का तुलनात्मक मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है। इन शिल्पियों के कला-विषयक उत्कर्ष एवं इसके फलस्वरूप इनकी धनाढ्यता के सम्बोधक, वस्तुत: वे तत्कालीन अभिलेख हैं जो इनके प्रचुर एवं प्रभूत अनुदानों को सन्दर्भित करते हैं।

आलोचित कालावधि के कुषाण कालीन अभिलेखांकनों में सन्दर्भित नागरिक व्यवसायों एवं उद्योग-धन्धों के सन्दर्भ में क्षत्रप एवं महाक्षत्रप के उपरान्त दण्डनायक एवं महादण्डनायक का प्रसंग दिया गया है। ऐसी स्थापना की गई है कि पूर्ववर्चित दोनों शब्द दीवानी कार्यों से सम्बन्धित राजाधिकारी थे, तथा अनुवर्चित दोनों शब्द सैन्य-कल्प कार्यों से सम्बन्धित राजाधिकारी माने जा सकते हैं।[32] इस सन्दर्भ में आर0एस0 शर्मा का सुझाव रहा है कि इन दोनों (दण्डनायक एवं महादण्डनायक) राजाधिकारियों के क्रिया-कलाप का सम्बन्ध सैन्य-कार्यों के अतिरिक्त अन्य कार्यों से था। इस सन्दर्भ में शर्मा महोदय ने आलोचित कालावधि के अनेक ब्राह्मी एवं खरोष्ठी अभिलेखों को प्रसंगित किया है।[33] प्रस्तुत आशय को अधिक स्पष्ट करने के लिये मथुरा के गणेशा नामक स्थान से उपलब्ध एक प्रतिमांकित अभिलेख का उल्लेख किया जा सकता है जिसका मूल पाठ निम्नोक्त है;

"महादण्डनायकयमवहेकस्य विश्वषकस्य उलानस्य पटिका"[34]।

प्रस्तुत अभिलेख के महत्त्वपूर्ण तत्वों की समीक्षा करते हुये एच0लूडर्स इस निष्कर्ष

पर पहुँचते हैं कि सम्बन्धित प्रतिमा महादण्डनायक उलान की ही मानी जा सकती है।[35] यह उल्लेखनीय है कि विश्वक का ही समानार्थक एवं समस्तरीय विश्वशक शब्द मथुरा के तत्कालीन अन्य अभिलेखों में भी उपलब्ध होता है, जिसे वैदेशिक उत्पत्ति से सम्बन्धित माना गया है । इसके अतिरिक्त इसे उपाधि-द्योतक शब्द के रूप में ग्रहण किया गया है । इसी प्रकार यमषकेह को भी वैदेशिक उत्पत्ति से सम्बन्धित उपाधि-द्योतक शब्द माना गया है । ऐसी स्थिति में यह कह सकते हैं कि तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिसर में वैदेशिक नागरिकों की भूमिका महत्वपूर्ण थी ।

नगरों के सन्दर्भ में प्रतिष्ठित व्यवसायों एवं उद्योग-धन्धों को प्रसंगित करते हुये, अभिनेताओं के व्यवसाय पर बल दिया गया है । मथुरा से ही उपलब्ध एक अभिलेख में उन "शैलालकों" का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने दधिकर्ण के देवालय में आयागपट्ट का दान दिया था । बूलर के अनुसार शैलालक शब्द को उसी स्थिति में किसी विशेष अर्थ का बोधक माना जा सकता है, जब कि इसे शैलालिन शब्द का समानार्थक स्वीकार कर लिया जाय । अष्टाध्यायी से व्यक्त होता है कि मूलतया "शैलालिन" का तात्पर्य उन अभिनेताओं से था, जो पाणिनि के सूत्रों का अध्ययन करते थे ।[36] वी०एस० अग्रवाल की व्याख्या के अनुसार अष्टाध्यायी से व्यक्त होता है कि शैलालिन नाट्य सूत्रों के प्रणेता थे ।[37] आपस्तम्ब श्रौत सूत्र में सन्दर्भित "शैलालक" शब्द की व्याख्या करते हुये ए०बी कीथ ऐसा निष्कर्ष निकालते

हैं कि वस्तुतः शैलालक ऋग्वैदिक चारण परम्परा को अभिद्योतित करते हैं, जिनकी अपनी ब्राह्मण शाखा होती थी ।[38] यह उल्लेखनीय है कि मथुरा के ही एक अन्य अभिलेखिक साक्ष्य से यह अभिव्यक्त हो जाता है कि तत्कालीन सामाजार्थिक परिवेश में उक्त व्यवसाय की लोकप्रियता बन चुकी थी । इस आशय का अभिलेखांकित "रंगानर्त्तन" शब्द प्राप्त होता है, जिसका अर्थ रंगशाला अथवा रंगशाला का अभिनेता माना गया है । दोनों ही अर्थों में इसका सम्बन्ध अभिनेतृ-व्यवसाय से स्थापित किया जा सकता है । इसी प्रकार मथुरा के एक अभिलेख में फल्गुयशा नामक नर्त्तक का उल्लेख मिलता है, जिसने किसी जैन मठ में आयागपट्ट का दान दिया था ।

आलोचित कालावधि के अभिलेखों से अभिव्यज्यमान स्वतंत्र व्यवसायों में गणिका का व्यवसाय भी सम्मिलित किया जाता है । इसके प्रचलन की सूचना मथुरा से उपलब्ध एक आयागपट्ट-अभिलेख से मिलती है । इस सन्दर्भ में के० प्रसाद[39] का सुझाव है कि यह व्यवसाय प्रायः अनिन्द्य माना जाता था, तथा कुछ ऐसी गणिकाओं के उदाहरण मिलते है जिन्हें जैन संघ में सम्मिलित किया गया था । यही निष्कर्ष हरिपद चक्रवर्ती[40] का भी रहा है, जिन्होंने सम्बन्धित अभिलेख के सन्दर्भ में कहा है कि इससे तत्कालीन समाज में गणिकाओं की अपेक्षाकृत उत्कृष्ट स्थिति की सूचना मिलती है । प्रस्तुत अभिलेख किसी लोणशोभिका नामक गणिका को प्रसंगित करता है जिसने अपने सम्बन्धियों के साथ अर्हतों की उपासना के लिये आयागसभा एवं प्रपा (जलाशय) का निर्माण कराया था, तथा किसी अर्हत-आयतन

(जैन मन्दिर) में आयागपट्ट का दान दिया था । इसके अतिरिक्त, आलोचित अभिलेख में दानकर्त्री गणिका के अतिरिक्त तीन अन्य गणिकाएँ भी सन्दर्भित हुई हैं, जिनकी आर्थिक समृद्धि की कामना की गई है तथा जिन्हें परस्पर सम्बन्धित बताया गया है । इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं होगा कि, कम-से-कम जैन सम्प्रदाय में गणिकाओं के व्यवसाय को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था ।

आलोचित कालावधि में प्रचलित अन्य अनेक व्यवसायों एवं उद्योग-धंधों में बुनकरों एवं रंगसाजों के व्यवसाय का महत्वपूर्ण स्थान माना जा सकता है । पुरातात्विक साक्ष्य यह समर्थित कर देते हैं कि व्यापारिक सन्दर्भ में भारतीय मलमल का वही स्थान था, जो चीनी रेशम का था- दोनों का ही प्रचुर निर्यात रोमन साम्राज्य में होता था ।[41] तत्कालीन साक्ष्यों में मिलिन्दपन्ह का उल्लेख किया जा सकता है, जिसके स्थल अन्य अनेक उद्योगों में रंगाई के उद्योग को भी सम्मिलित करते हैं ।[42] प्रस्तुत व्यवसाय की लोकप्रियता के कारण इसका अभिलेखीय सन्दर्भण स्वाभाविक माना जा सकता है । प्रसंगानुकूल अभिलेखांकित पंक्ति निम्नोक्त है, "जमकस्य बधु जयभट्टस्य कुटुंबिनीय रयगिनिये (वु) सु य" । प्रस्तुत पंक्ति में सन्दर्भित रयगिनीय शब्द की व्याख्या आलोचित विषय से सम्बन्धित है । बूलर ने इसे व्यक्ति-वाचक शब्द माना है ।[43] लूडर्स ने इसे वस्त्र-रंजक के अर्थ में ग्रहण किया है ।[44] इसी शब्दार्थ को हरिपद चक्रवर्ती[45] एवं के० प्रसाद[46] ने मान्यता दी है । यद्यपि शब्द की अस्पष्टता एवं

अभिलेख की खण्डित अवस्था के कारण इसकी अभिव्यंजना सन्देह-रहित नहीं है, तथापि अभिलेख के प्राप्ति-स्थान मथुरा के व्यापारिक क्रिया-कलाप के सन्दर्भ में लूडर्स द्वारा प्रस्तावित अर्थ को अश्रेय नहीं माना जा सकता है ।

आलोचित कालावधि से सम्बन्धित अभिलेख तत्कालीन आर्थिक गतिविधि में काष्ठकला से सम्बन्धित उद्योग पर भी पर्याप्त प्रकाश डालते हैं । इस सन्दर्भ में मथुरा के राद-भंडार नामक टीले से उपलब्ध उस विशेष अभिलेख तथा सम्बन्धित आलेख्य-उपकरण का उल्लेख किया जा सकता है, जिसे विद्वानों ने प्राय: समीक्षा का विषय बनाया है । अभिलेखांकित उपकरण नाग-देवता की पाषाणमयी प्रतिमा है, जिसकी पार्श्ववर्त्तिनी प्रतिमाएँ दो नागदेवियों की हैं। प्रतिमा के नीचे उपासना की मुद्रा में पाँच पुरूष-आकृतियाँ निर्मित हैं । इसके नीचे अभिलेख का अंकन प्राप्त होता है । आलोचित विषय से सम्बन्धित वाक्य को वाइ० आर० गुप्त[47] ने "माथुरस्य नियमडिकस्य" पढ़ा है । किन्तु लूडर्स[48] द्वारा प्रस्तावित "माथुरस्य नियवडिकस्य" अधिक सही लगता है । अक्षर "व" इतनी सुरक्षित एवं सुपाठ्य स्थिति में है कि "म" की सम्भावना नहीं मानी जा सकती है । लूडर्स वडिक का अर्थ (वर्द्धकी) बढ़ई तो मानते हैं । किन्तु निय शब्द को अनिश्चित अर्थ का द्योतक मानते हैं । एच० कृष्णशास्त्री ने इसे व्यक्ति-वाचक नाम माना है ।[49] अभिलेख की व्याख्या से यह सिद्ध हो जाता है कि, आलोचित कालावधि में काष्ठ-व्यवसाय मथुरा जैसे व्यापार के केन्द्रों में सुप्रचलित था, तथा इस व्यवसाय का अनुसरण करने वाले धन-

सापेक्ष दान करने में समर्थ भी थे ।

आलोचित युग में लौह-विषयक व्यवसाय समुन्नत स्थिति में पहुँच चुका था । अभिलेखेतर एवं अभिलेखीय, दोनों कोटि के साक्ष्य यह अभिव्यक्त कर देते हैं कि लौह धातु से बने हुये भारतीय उपकरणों द्वारा भारतीय व्यापार को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित होने में यथेष्ठ सहायता मिली थी । पेरिप्लस के साक्ष्य से व्यक्त होता है कि भारतीय लौह-उपकरणों को अफ्रीका के माध्यम से पश्चिमी विश्व में निर्यातित किया जाता था ।[50] मथुरा से ऐसे अनेक अभिलेख उपलब्ध हो चुके है, जिनमें लौह व्यवसाय का अनुसरण करने वाले शिल्पी सन्दर्भित हुये हैं, जिन्हें लोहकारूक, लोहिकाकारूक एवं लोहवाणिय शब्दों से सन्दर्भित किया गया है । इन अभिलेखों में एक ऐसा अभिलेख भी है, जिसमें लोहकारूक शब्द को गोट्टिक (गौष्ठिक) शब्द से विशेषित किया गया है-अर्थात् इन लौह शिल्पियों की गोष्ठी होती थी । स्वभावत: इसके सदस्य समृद्धिशाली होते थे । तत्कालीन मथुरा से ही उपलब्ध ऐसा अभिलेख भी है जिसमें लोहे के व्यापारी (लोहवाणिय) एवं सोने के व्यापारी (मणिकार) में परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध का सन्दर्भण हुआ है । इस सन्दर्भण के आधार पर ऐसा निष्कर्ष निकालने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है कि इन दोनों कोटि के व्यापरियों की समस्तरीय सामाजिक स्थिति रही होगी ।

आलोचित कालावधि से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण

उद्योग गन्ध-निर्माण था, जिसका सत्यापन तत्कालीन पुरातात्विक एवं साहित्यिक साक्ष्यों द्वारा सन्तोषजनक रूप में हो जाता है। ऐसे पुरातात्विक अवशेष मिल चुके हैं, जिनकी पहचान गन्ध-पत्रों एवं गन्ध-दीपों से की जाती है।[51] तत्कालीन साहित्यिक रचना अंगविज्जा में "गन्धिक" शब्द प्रसंगित है,[52] जो गन्ध-व्यावसायियों एवं उनके गन्ध-विषयक कार्यकलाप का द्योतक माना जा सकता है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व एवं प्रथम शताब्दी ईसापूर्व की ऐसी अनेक मुद्राएँ कौशाम्बी से प्राप्त हुई हैं, जिन पर "गधिकानं" शब्द अंकित है, जो इस तथ्य की प्रमापक हैं कि आलोचित कालमेंगन्ध-व्यापारी समृद्धिशाली थे तथा अपने समुदाय की मुद्राओं को चलाने में समर्थ थे। मथुरा से ऐसे चार अभिलेख मिल चुके हैं, जिनमें गन्धिकों के अनुदान-विषयक क्रिया-कलाप का प्रसंग प्राप्त होता है। पहला अभिलेख किसी कुमारभट्टि नामक गन्धिक को सन्दर्भित करता है, जिसने जैन प्रतिमा का दान दिया था।[53] दूसरा अभिलेख खण्डित अवस्था में मिला है, जिसके सुरक्षित वाक्यांश से सूचना मिलती है कि किसी गन्धिक के माता ने कोई धार्मिक कृत्य सम्पन्न किया था।[54] तीसरे अभिलेख में कुषाण-नरेश वासुदेव के शासन-काल के साथ-साथ यह प्रसंगित है कि किसी गन्धिक की पत्नी जिनदासी जैन प्रतिमा का दान दिया था।[55] इसी कुषाण-नरेश को सन्दर्भित करते हुये चौथा अभिलेख वरुण नामक किसी गन्धिक की पुत्रवधू के दान का उल्लेख करता है।[56] ऐसे सुझाव में काफी औचित्य दिखाई देता हैकिगन्ध-व्यापारियों के संघ रहे होंगे, तथा अपनी आर्थिक समृद्धि के परिणाम

में प्रचुर दान देने में भी समर्थ रहे होंगे।[57]

आलोचित कालावधि के विभिन्न साक्ष्य स्पष्ट कर देते हैं कि उद्योग-धंधों में बुनकर के व्यवसाय को महत्वपूर्ण स्थान मिला था। जैसा कि आर०एस० शर्मा[58] व्याख्यापित करते हैं, यद्यपि बुनकर के व्यवसाय के प्रचलन की सूचना बुद्धयुगीन समाज के सन्दर्भ में मिलती है, तथापि आलोचित काल में यह व्यवसाय अपेक्षाकृत अधिक उन्नतिशील अवस्था को पहुँच चुका था। इसका प्रधान कारण था हिन्द-सीथियनों की वेश-भूषा, जिसके अनेक प्रकार प्रचलित थे तथा जिनके साक्ष्य मथुरा की तत्कालीन मूर्तिकला में उपलब्ध होते हैं। इन मूर्तियों में वेष-भूषा को जो स्वरूपांकन हुआ है उसकी सविशेष समीक्षा आर०एस० शर्मा के अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने भी किया है जिनमें फ्रोगेल,[59] बी०एस० अग्रवाल,[60] तथा मार्शल[61] के नाम सम्मिलित किये जा सकते हैं।

सम्बन्धित अभिलेखीय साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोचित कालावधि में बुनकर का व्यवसाय न केवल प्रचलित ही था, अपितु इस व्यवसाय का अनुसरण करने वाले समृद्धिशाली भी थे। उक्त आशय के द्योतक मथुरा के चार अभिलेख उल्लेखनीय है, जिनमें ऐसे व्यवसायी के लिये प्रावारिक शब्द प्रयुक्त हुआ है। इनमें पहला अभिलेख कनिष्क के संवत्सर 94 (174 ईस्वी) को सन्दर्भित करते हुये हस्थ नामक किसी ऐसे प्रावारिक का उल्लेख करता है, जिसने बौद्ध प्रतिमा की स्थापना किया था।[62]

दूसरा अभिलेख खण्डित अवस्था में प्राप्त हुआ था । इसमें किसी भवनन्दिन नामक प्रावारिक का उल्लेख है । अभिलेखांकित प्रतिमा भग्न हो चुकी है । लूडर्स का अनुमान है कि अपने मूल रूप में यह किसी नाग की प्रतिमा रही होगी ।[63] तीसरा अभिलेख काफी खण्डित अवस्था में मिला है । इसके सुरक्षित अक्षर-----स्य प्रावारि---- किसी प्रावारिक के दान को अभि-द्योतित करते हैं ।[64] चौथा अभिलेख भी काफी खण्डित अवस्था में मिला है, तथापि सुरक्षित वाक्यांश में प्रावारिक-विहार[65] के सन्दर्भण के कारण इसकी विवेचन-सापेक्ष उपादेयता महत्त्वपूर्ण है । वस्तुत: एक ओर यदि इसके मथुरा में प्रावारिकों की क्रिया-कलाप की सघनता का अनुमान लगाया जा सकता है, तो दूसरी ओर इसके आधार पर इस वर्ग की आर्थिक समृद्धि सुव्यक्त हो जाती है ।

प्रावारिक व्यवसाय के अतिरिक्त, आलोचित कालावधि के अभिलेखों में कार्पासिक व्यवसाय के संसाधक स्थल-प्राप्त होते हैं । इनमें वह अभिलेख उल्लेखनीय है, जो कुषाण-नरेश हुविष्क के वर्ष 60 (130 ईस्वी) को सन्दर्भित करता है, तथा मथुरा से उपलब्ध हुआ था ।[66] अभिलेख खण्डित अवस्था में उपलब्ध हुआ था । अवशिष्ट अक्षर किसी दत्ता नामक नारी के दान को सन्दर्भित करते हैं, जो किसी कार्पासिक की "कुटुंबिनी" थी । इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि इस कालावधि में कार्पासिक व्यवसाय काफी प्रचलित था, जिसके संकेतक साक्ष्य मिलिन्दपन्ह में प्राप्त होते हैं । उक्त ग्रन्थ में तत्कालीन अन्य अनेक व्यवसायों के साथ-साथ कार्पासिक व्यवसायियों

के स्पष्ट सन्दर्भ मिलते हैं ।[67]

यहाँ एक स्वाभाविक जिज्ञासा उठाई जा सकती है कि आलोचित कालावधि के निम्न वर्ग की आर्थिक स्थिति क्या थी, तथा इस दिशा में अभिलेखिक सूचना क्या है ? इस सन्दर्भ में बी० एन० मुखर्जी ने तत्कालीन मुर्त्तिकला के उन महत्वपूर्ण उदाहरणों को उद्धृत किया है जिनमें विलासोचित मुद्रा में उच्चस्तरीय नारियों को अंकित किया गया है, तथा इनके साथ ही उन निम्नस्तरीय सेविकाओं को भी अंकित किया गया है जिनकी भावभंगिमा एवं वेश-भूषा से उनकी दैन्यावस्था का अभिद्योतन होता है ।[68] जहाँ तक सम्बन्धित अभिलेखिक साक्ष्यों का प्रश्न हैं, प्रस्तुत जिज्ञासा के स- समाधानार्थ मथुरा के चौबरा नामक टीले से उपलब्ध उस विशेष अभिलेख का उल्लेख किया जा सकता है जो किसी कठिक नामक व्यक्ति के दान को सन्दर्भित करता है ।[69] इस अभिलेख की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है कि इसमें कठिक को "अभ्यन्तरोपस्थापक" शब्द से विशेषित किया गया है । लूडर्स की वैदुष्य पूर्ण समीक्षा के अनुसार उक्त विशेषक शब्द नाट्यशास्त्र (24•7) के "आभ्यन्तरोगण:" का समानार्थक है । इस शब्द का अर्थ अन्त:पुर का परिचारक माना गया है । ऐसी सम्भावना की जा सकती है कि कठिक अन्त:पुर के परिचारकों का अध्यक्ष रहा होगा । अत: कथित व्यक्ति की आर्थिक समृद्धि के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता है । समृद्धिशाली होने के कारण ही ऐसे अनुदान के लिये वह समर्थ रहा होगा । परिच्छेदान्तर में मथुरा से ही उपलब्ध उस विशेष अभिलेख का उल्लेख किया जा चुका है,

जो किसीजार नामक राजनापित को सन्दर्भित करता है, तथा जिसकी आर्थिक समृद्धि सम्भाव्य है ।

उक्त दोनों अभिलेखों की ऐतिहासिक अभिव्यंजना के सन्दर्भ में कह सकते हैं कि कठिक और जार राजदर्बार से सम्बन्धित थे, अतएव इनकी आर्थिक समृद्धि संशयशील नहीं मानी जा सकती है । किन्तु सामान्यतया, निम्न वर्ग की आर्थिक स्थिति के विषय में इन दोनों अभिलेखिक साक्ष्यों के आधार पर मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है । इस सन्दर्भ में बी० एन० मुखर्जी ने पश्चिम भारत के शक नरेश रूद्रदामन् प्रथम के जूनागढ़ अभिलेख को सन्दर्भित किया है । इसका समय (शक) संवत् 72 अर्थात् 150 ईस्वी है । अभिलेख के अनुसार यह नरेश पुरवासियों एवं जनपद वासियों को "कर" "विष्टि" (बेगार की प्रथा) तथा "प्रणय" (आपातकालीन कर) आदि के द्वारा पीड़ा नहीं पहुँचाता था ।[70] मुखर्जी का ऐसा भी सुझाव है कि कार्दमक वंश जिससे रूद्रदामन प्रथम सम्बन्धित था, सम्भवतः सौराष्ट्र क्षेत्र में कुषाणों के प्रतिनिधि के रूप शासन कर रहा था, तथा सम्भवतः कुषाण साम्राज्य विष्टि आदि से अपरिचित नहीं था । किन्तु, यदि समग्रता की दृष्टि से देखा जाय तो "दीन" "अनाथ" आदि के हितार्थ दान को सन्दर्भित करने वाले मथुरा से उपलब्ध संवत् 28 के हुविष्क के प्रस्तर-अभिलेख के आलोक में कह सकते हैं कि कुषाणों के शासनाधिकारी सर्वसाधारण की आर्थिक विपन्नता के सुधारार्थ सक्रिय अवश्य थे । इसमें सन्देह नहीं कि

यह अभिलेखिक सन्दर्भ कुषाणों के प्रजाशुभेच्छु शासन का महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है, जिसकी अनुरूपता के सर्वाधिक स्थल हिन्दू विधि-शास्त्रों में भी समुपलब्ध होते हैं ।[71]

आलोचित कालावधि के वे अभिलेख विश्लेषण के लिये सविशेष महत्त्वपूर्ण हैं, जो "श्रेणी" और "गोष्ठी" शब्दों को सन्दर्भित करते हैं; जिनका तत्कालीन आर्थिक गठन में महत्त्वपूर्ण स्थान माना जा सकता है । इस प्रसंग में सर्वप्रथम संवत् 28 को सन्दर्भित करने वाले हुविष्क के मथुरा-प्रस्तर-अभिलेख का उल्लेख किया जा सकता है । इसके अनुसार दानकर्त्ता ने स्थानीय "श्रेणी" (व्यापारियों का संघ) में पुराण मुद्राओं की "अक्षयनीवि" का निक्षेप दिया था, जिसके ब्याज का उद्देश्य था अनाथ आदि की कोटि में आने वाले लोगों का भरण-पोषण एवं देवपुत्र षाहि हुविष्क के पुण्य का अभिवर्द्धन ।[72] इस प्रकार कुषाण-काल की श्रेणियों को आधुनिक सहकारी बैंकों का समस्तरीय मान सकते हैं । प्रकारान्तर से कह सकते हैं कि इस व्यवस्था के परिणाम में निक्षिप्त धनराशि के ब्याज से लोकहित के कार्य सम्पन्न होते थे, तथा मूलधन को व्यापारी तत्कालीन व्यापार की दिशा में लगाते थे । श्रेणी का ही लगभग समस्तरीय शब्द तत्कालीन अभिलेख-सुलभ शब्द गोष्ठी है, जिसका सन्दर्भण मथुरा के एक महत्त्वपूर्ण अभिलेख में प्राप्त होता है । इस अभिलेख में किसी दानकर्त्ता ओहकारक का प्रसंग है जिसके विशेषणार्थ "गोट्ठिक" शब्द का प्रयोग हुआ है ।[73] "गोट्ठिक" को संस्कृत शब्द "गौष्ठिक" का प्राकृत रूपान्तर मानने में कोई हानि नहीं

दिखाई देती है । इससे प्रतीत होता है गोष्ठी शिल्पियों अथवा व्यापारियों की कोई समिति थी, जिसका अभिलेखोक्त लोहकार सदस्य था । यद्यपि गोष्ठी की सदस्यता अथवा क्रिया-कलाप के विषय में कोई स्पष्ट सूचना नहीं मिलती, तथापि इतना कहा जा सकता है कि श्रेणी के समान ही तत्कालीन आर्थिक गतिविधि एवं गठन में गोष्ठी का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा होगा । गोष्ठी शब्द का सुस्पष्ट सन्दर्भण एक मघ-अभिलेख में प्राप्त होता है । मौद्रिक एवं आभिलेखिक साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो चुका है कि कुषाणों की सत्ता के ह्रास के स्तर पर दक्षिण में मध्यप्रदेश के बन्धोगढ़ से उत्तर में फतेहपुर के भूक्षेत्र एवं दोनों के मध्य में स्थित कौशाम्बी के विस्तृत भूक्षेत्र में मघ राजवंश के शासकों की सत्ता स्थापित थी, जिनकी राज्यावधि के प्रमापक अभिलेख संवत् 51 (123 ईस्वी) से लेकर संवत् 139 (217 ईस्वी) को सन्दर्भित करते हैं । गोष्ठी का सन्दर्भ संवत् 51 को प्रसंगित करने वाले भीमसेन के अभिलेख में मिलता है । इस गोष्ठी के आठ व्यापारी 75 एवं शिल्पी सदस्य थे, जिनकी देख-रेख में एक गुफा का निर्माण हुआ था । उक्त सभी अभिलेखों से अभिद्योतित होता है कि श्रेणी एक ऐसी समिति थी, जिसे आधुनिक सहकारी बैंक का समस्तरीय मान सकते हैं; जिसमें निक्षेप के रूप में धनराशि को जमा किया जाता था । इसी से गोष्ठी सम्बन्धित थी, जिसे आधुनिक ट्रस्टी का समस्तरीय माना जा सकता है अथवा जिसे प्रबन्ध-समिति की कोटि में रख सकते हैं ।

आलोचित कालावधि से सम्बन्धित अभिलेखीय सन्दर्भों को समर्थित करने वाले ऐसे साक्ष्य मिल चुके हैं, जिनसे यह अभिव्यक्त हो जाता है कि कृषि-कार्य आर्थिक गठन का अभिन्न अंग था एवं व्यक्तिगत तथा राजकीय स्तर पर इसे प्रोत्साहित करने के लिये विशेष प्रयास किया जाता था। कुषाण-सत्ता के अन्तर्भूत भारत के पश्चिमोत्तर भाग अथवा भारतेतर पश्चिमोत्तर भाग से उत्खनन-सुलभ जो साक्ष्य प्राप्त हुये हैं, उनमें नहरों के अवशेष, कर्षणोचित भूमि के खत्तों के संकेतक अवशेष, हलों के लौह-फाल सम्मिलित हैं। इन पुरातात्त्विक उपकरणों का समय प्रथम शताब्दी ईस्वी से लेकर तृतीय शताब्दी ईस्वी तक माना गया है।[75] सम्बन्धित खरोष्ठी - अभिलेखों के आधार पर ऐसा वैदुष्य-पूर्ण निष्कर्ष निकाला गया है कि तत्कालीन समाज में कूप, उदपान, पुष्करिणी आदि को सिंचाई का सुगम साधन माना जाता था; तथा इनका निर्माण धार्मिक कृत्य के रूप में ग्रहण किया जाता था। इस सन्दर्भ में सुई-कोताल से उपलब्ध एक खरोष्ठी अभिलेख के आधार पर ऐसा निष्कर्ष निकाला गया है कि ऐसे कार्य राज्य की ओर से भी सम्पन्न किये जाते थे तथा जल-निर्झरण की सुविधा के लिये समय-समय पर सम्बन्धित भवनों का जीर्णोद्धार और नवीकरण भी किया जाता था।[76]

उक्त आशय को स्पष्ट करने वाले आलोचित अवधि के ब्राह्मी अभिलेख निम्नोक्त हैं। इनमें पहला अभिलेख मथुरा के माट नामक गाँव के समीप स्थित टोकरी टीला नामक स्थान से प्राप्त हुआ था। इसमें

हुमक्ष्याल नामक किसी बकनपति द्वारा पुष्करिणी एवं उदयान के निर्माण का सन्दर्भ प्राप्त होता है। लूडर्स ने इस अभिलेख के आलेख्य उपकरण के विषय में कुछ-एक महत्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख किया है। इनके अनुसार अभिलेखांकित विशाल प्रतिमा को किसी (कुषाण) राजप्रतिमा का द्योतक माना जा सकता है। यही सुझाव फोगेल का भी है, जिनकी समीक्षा के अनुसार जिस सुदर्शन एवं सुनियोजित शैली में इस प्रतिमा का निर्माण किया गया है, वह इसको कुषाण राजप्रतिमा का ही द्योतक बनाती है। इसके अतिरिक्त अभिलेखोक्त लोकहितकारी एवं धार्मिक कार्य का सम्बन्ध भी राज्य-प्रेरित कार्य का ही द्योतक माना जा सकता है।[77] उक्त आशय का द्योतक दूसरा अभिलेख भी मथुरा के माट नामक गाँव के समीप स्थित टोकरी टीला से ही प्राप्त हुआ था। एक खण्डित पुरुष-प्रतिमा पर अंकित यह अभिलेख मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित है।[78] अभिलेख के अवशिष्ट वाक्यांश के अनुसार किसी "मनपाक्पति, "महादण्डनायक" ने हुविष्क के काल में एक "भग्नपतित" तडाग का नवनिर्माण कराया था। ऐसे सुझाव को स्वीकार करने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है कि सिंचाई के लिये किसी पूर्वनिर्मित तथा उत्तरकाल में जीर्ण तालाब का निर्माण किसी हुविष्क-कालीन राजकर्मचारी ने कराया था। इस राजकर्मचारी को विशेषित करने वाली दो उपाधियाँ थी : एक तो महादण्डनायक तथा दूसरी मनपाक्पति। सम्भवत: मनपाक्पति और बकनपति विषमार्थक किन्तु

समस्तरीय शब्द हैं । दोनों ही शब्दों से सम्बन्धित महादण्डनायक की ईरानी उत्पत्ति की सम्भावना की जा सकती है ।

प्रस्तुत परिच्छेद के विवेच्य विषय को ध्यान में रखते हुये विद्वानों के इस निष्कर्ष को भी विचार-विमर्श का विषय बनाया जा सकता है कि आलोचित कालावधि में शिल्पियों का आर्थिक स्तर उच्चासीन हो चुका था । आर०एस० शर्मा के मत को यदि श्रेय मान लिया जाय तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कुषाण-काल में व्यापारियों एवं शिल्पियों के बीच विभिन्नता की द्योतक कोई रेखा ही नहीं खींची जा सकती थी[79]। शर्मा के सुझाव के समर्थन में अभिलेखिक साक्ष्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं । उदाहरण के लिए मथुरा से उपलब्ध एक पूर्वचर्चित अभिलेख में "लोहवाणिय" वाधर को "मणिकार" जयभट्ट का निकट सम्बन्धी बताया गया है ।[80] लोहवाणिय शब्द लोहिकाकार अथवा लोहिकाकारूक शब्द से अधिक भिन्न भले ही न माना जाय, किन्तु वाणिय शब्द से संयुक्त होने के कारण यह सुस्पष्ट हो जाता है कि वाधर एक साधारण शिल्पी के स्तर से ऊपर उठकर व्यापारी के स्तर पर आ चुका था । ऐसे सुझाव में सार्थकता दिखाई देती है कि आलोचित कालावधि से सम्बन्धित इतनी प्रचुर संख्या में प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं, तथा इन मूर्तियों में कला-सौष्ठव का इतना अधिक उत्कर्ष दिखाई देता है कि इनके निर्माता शिल्पियों का सम्मानित सामाजिक स्तर स्वयं सुव्यक्त हो जाता है । पुराभिलेखिक साक्ष्य इन मूर्ति-शिल्पकारों की साक्षरता को भी अभिव्यक्त करते हैं । इस आशय के निदर्शनार्थ आलोचित कालावधि के वष्टन (अथवा षष्टन), नायस, लवण जैसे मूर्ति-शिल्पकारों के

नाम उल्लेखनीय हैं; जो मथुरा से प्राप्त विभिन्न सुनिर्मित मूर्तियों पर उट्टंकित हुये हैं। इसी कोटिकेपाषाण-शिल्पियों में जवण को भी रखा जा सकता है, जिसका नामांकन कुषाण कालीन ब्राह्मी में कौशाम्बी से उपलब्ध एक भग्न शिला-खंड पर प्राप्त होता है।[81]

उद्योग-धन्धों, वाणिज्य एवं व्यवसाय की सुसमृद्धि के कारण मुद्रा-निर्माण एवं मुद्रा-व्यवहार की व्यापनशीलता आलोचित कालावधि में स्वाभाविक मानी जा सकती है। कदाचित् आर०एल०शर्मा के इस कथन में औचित्य दिखाई देता है कि तत्कालीन आर्थिक परिसर में अधिकांशतः मुद्रा का ही व्यवहार होता था, किन्तु वस्तु-विनमय की प्रथा तिरोहित नहीं हुई थी।[82] सर्वेक्षण-शोधों से यह स्पष्ट हो चुका है कि कुषाणों की मुद्राएँ रोमन साम्राज्य में प्रभूत संख्या में नहीं मिल पाई हैं। इस बात की सम्भावना की जा सकती है कि रोमन साम्राज्य के प्राच्य प्रान्तर से कुषाण-साम्राज्य के सैन्धव क्षेत्र के निम्न भाग में जिन विक्रेय वस्तुओं का आयात होता था उनके पण्य का माध्यम अधिकांशतः वस्तुओं का आदान-प्रदान ही होता था।[83] इस सन्दर्भ में बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ दिव्यावदान में निरूप्य "प्रतिपण्य" शब्द की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है, तथा इस शब्द की अभिव्यंजना व्यापार-सापेक्ष वस्तु-विनिमय माना गया है।[84] इतना होते हुए भी सामान्यतया तत्कालीन व्यापार-वाणिज्य एवं उद्योग-धन्धों की गतिशीलता के सुगम माध्यम मुद्राओं के विभिन्न प्रकार थे, जिनके संज्ञापनार्थ

तत्कालीन साहित्य में "दीनार" "पुराण" और "कार्षापण" जैसे शब्द अनेकशः प्राप्त होते हैं ।[85] सम्भवतः दीनार शब्द सुवर्ण मुद्रा को संज्ञापित करता है । ऐसे निष्कर्ष को स्वीकार करने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है कि कुषाणों ने रोम-सम्राटों की ही भाँति राजकीय मुद्राओं को सम्भवतः (अपनी शक्ति-सत्ता के) प्रचार का माध्यम बनाया था । ऐसी सम्भावना का समर्थन उन कुषाण-मुद्राओं के द्वारा होता है, जिन्हें प्रायः निधियों के रूप में भारत के विभिन्न भागों एवं भारत के बाहर मध्य एशिया के विभिन्न भागों से प्राप्त हुए हैं ।[86] इस पृष्ठभूमि के साथ मुद्रा-व्यवहार को सन्दर्भित करने वाले आलोचित कालावधि के निम्नोक्त अभिलेख विश्लेषण के विषय बनाये जा सकते हैं: (1) हुविष्क के वर्ष 28 को सन्दर्भित करने वाला मथुरा का प्रस्तर-अभिलेख: इस अभिलेख में किसी बकनपति के द्वारा "पुण्यशाला" में "अक्षयनीवि" के रूप में पुराण नामक मुद्राओं के निहित किये जाने का प्रसंग प्राप्त होता है । डी०सी० सरकार ने अभिलेखांकित पुराण का समीकरण उन पुरातन आहत मुद्राओं के साथ किया है, जिनकी तौल का आदर्श 32 रत्ती अर्थात् 58•56 ग्रेन होता था । "पुराण" मुद्रा का सन्दर्भ मनुस्मृति एवं विष्णुस्मृति में भी प्राप्त होता है ।[87] उक्त दोनों स्मृतियों में पुराण और धरण- इन दोनों मुद्राओं को समानार्थक बताते हुए इनकी तौल 32 रत्ती मानी गई है । साक्ष्य-समर्थित तर्कों के आधार पर पुराण को कार्षापण के साथ समीकृत किया गया है । दूसरे शब्दों में आलोचित काला-वधि में एक ही मुद्रा को पुराण, धरण एवं कार्षापण शब्दों के द्वारा संज्ञापित

किया जाता था । सम्भवतः; जैसा कि दिव्यावदान[88] से पता चलता है, इन तीनों में कार्षापण नाम अधिक प्रचलित था । कदाचित् यह रजत-निर्मित होता था, यद्यपि जी०एन०पुरी ने इसे ताम्र-मुद्रा की कोटि में रखा है ।[89]

आलोचित अनुच्छेद के विषय-विवेचन की दृष्टि से, कौशाम्बी से "गाधिकानं" शब्द को अंकित करने वाली ताम्र-मुद्राओं को विश्लेषित किया जा सकता है । सम्प्रति ये मुद्राएँ इलाहाबाद-संग्रहालय में सुरक्षित हैं। आर०आर० त्रिपाठी ने इन्हें प्रकाशित करते हुये ऐसा सुझाव रखा था कि इन मुद्राओं का निर्मातृ-सम्बन्ध गाधि-नामक जाति से माना जा सकता है जिनको अल्पकालिक सत्ता कनौज एवं कौशाम्बी के मध्यवर्ती भूक्षेत्र में स्थापित हुई थी ।[90] ऐसी सम्भावना के विपक्ष में के०डी० बाजपेयी का कथन है कि, (1) उक्त कोटि की मुद्राएँ केवल कौशाम्बी से ही मिली हैं । कनौज से इनकी उपलब्धि के संज्ञापक साक्ष्य नहीं प्राप्त हुये हैं । (2) इसमें सन्देह नहीं कि कनौज को गाधिपुर भी कहते थे । किन्तु कौशाम्बी कनौज के अन्तर्वर्त्ती क्षेत्र में शासन करने वाले गाधियों के साक्ष्य न तो अभिलेखों से अथवा किसी अन्य स्रोत से ही मिलते हैं । ऐसी स्थिति में इन मुद्राओं का निर्मातृ-सम्बन्ध गान्धिक के संघ अथवा श्रेणी से माना जा सकता है । इसके अतिरिक्त इन मुद्राओं पर अंकित ब्राह्मी के अक्षरों की शिल्प-विधि में मौर्योत्तर काल की ब्राह्मी से मिलती जुलती है । इस सन्दर्भ में अक्षर "ग" की वर्तुल आकृति विशेषतया उल्लेखनीय है (∩), जो मौर्यकालीन ब्राह्मी की कोणोन्मुख (∧) आकृति से भिन्न है, तथा जिससे सम्बन्धित मुद्रा की

अभिव्यंजना आलोचित कालावधि की संकेतक मानी जा सकती है । ऐसी स्थिति में के0डी0 बाजपेयीके सुझाव के समर्थन में यह कह सकते हैं कि आलोचित काल के कौशाम्बी के आर्थिक गठन में गन्धिकों के व्यापारिक संगठन का महत्वपूर्ण योगदान रहा होगा, तथा वे आधिकारिक रूप में अपनी संघीय मुद्राओं का निर्माण एवं व्यवहार कर सकते थे ।

प्रस्तुत परिच्छेद के समापन-विन्दु के साथ-साथ यह स्वीकार करने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है कि उत्तर भारत के आर्थिक इतिहास में, आलोचित कालावधि का महत्वपूर्ण स्थान रहा है ।आर्थिक समृद्धि की दृष्टि से अन्य नगरों के अतिरिक्त मथुरा एवं कौशाम्बी तत्कालीन आर्थिक समृद्धि के विशिष्ट प्रतिनिधि माने जा सकते हैं । इस वैदुष्यपूर्ण निष्कर्ष में काफी औचित्य दिखाई देता है कि भारत में द्वितीय नगरीकरण की प्रक्रिया लगभग 600 ईसा पूर्व में प्रारम्भ हुई, इसे अपेक्षाकृत अधिक स्फूर्ति मौर्य-काल में प्राप्त हुई, तथा कुषाण-काल में इसे अपने चरमोत्कर्ष तक पहुँचने का सुयोग मिल सका था । प्रस्तुत परिच्छेद के पूर्ववर्ती अनुच्छेदों मथुरा एवं कौशाम्बी के अभिलेखांकित एवं मुद्रांकित रूपों की समीक्षा से उक्त आशय को समर्थित करने वाले ऐसे अनेक साक्ष्य प्राप्त हो चुके हैं, तथा इनके आलोक में यह भी सुव्यक्त हो जाता है कि नगरीकरण की प्रक्रिया में इन दोनों नगरों का अनल्प योगदान था ।

सन्दर्भ-निर्देश

1- मैक्रिण्डल, एंशेण्ट इण्डिया, पृ0 130,

बी0एन0पुरी, इण्डिया अण्डर दि कुषाणाज़

2- जर्नल आफ् रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, ग्रेट ब्रिटेन ऐण्ड आयरलैण्ड,

1904, पृष्ठांक 50 तथा अनुवर्त्ती पृष्ठ ।

3- मिलिन्द पन्ह, VI 21·360

4- राइज़ डेविड्स, दि क्वेश्चन आफ् किंग मिलिन्द, सेक्रेड बुक्स आफ्

द ईस्ट, खण्ड 26, भाग 1, पृष्ठ 11

5- बी0एन0 मुखर्जी, इकोनामिक फैक्टर्स इन कुषाण हिस्ट्री पृष्ठ 61

6- आर0एस0 शर्मा, ट्रेन्ड्स इन दि इकोनामिक हिस्ट्री आफ मथुरा

(300 बी0सी0-ए0डी0 300) इन इन्डोलाजिका तारिनेशिया,

खण्ड 8-9 (1980-81)

7- के0 प्रसाद, सिटीज़ क्राफ्ट्स ऐण्ड कामर्स अण्डर दि कुषाणाज़, पृ0 97

8- मोतीचन्द्र, इन्ट्रोडक्शन टु अंगविज्जा, पृष्ठांक 35-55

9- राजतरंगिणी, I, 168-69,

के0 प्रसाद, तत्रैव, पृष्ठ 22, पादटिप्पणी, 78

10- के0 प्रसाद, तत्रैव, पृष्ठ 21

11- इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, जुलाई 1980-जनवरी 1981, खण्ड 7, अंक 1-2, पृष्ठ 31

12- आर०एस० शर्मा, तत्रैव, पृष्ठांक 422-23

13- आर०एस० शर्मा, तत्रैव, पृष्ठ 422

14- दि पेरिप्लस आफ् दि एरिथ्रियन सी, पृष्ठ 57

15- मार्टियर कीलर रोम बियांड इम्पीरियल फ्रण्टियर, पृष्ठांक 169-70

16- इ०एच० वर्निंगटन, दि कामर्स बिटवीन दि रोमन इम्पायर ऐण्ड इण्डिया (संशोधित संस्करण) पृष्ठांक 43-48

17- बी०एन० मुखर्जी, तत्रैव, पृष्ठ 59

18- माट अभिलेख में निम्नोक्त पाठ है "बकन पतिना हुमष्पालेन देवकुलं कारितं" (लूडर्स, मथुरा इंसक्रिप्शंस, क्रम सं० 135; संवत् (अथवा वर्ष) 28 को सन्दर्भित करने वाले हुविष्ककालीन मथुरा प्रस्तर-अभिलेख में निम्नोक्त पाठ मिलता है, "प्राचीनीकन सरुकनानपुत्रेण खराळलेरपतिन बकनपतिना अक्षयनीवि दिन्ना" (एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड 21, पृष्ठांक 66 तथा अनुवर्ती पृष्ठ

19- लूडर्स की समीक्षा के अनुसार सम्भवत: अभिलेखांकित प्रतिमाएँ दान-सामग्री में सम्मिलित थी, तत्रैव, पृष्ठ 136.

20- बुलेटिन आफ् दि स्कूल आफ् ओरियण्टल ऐण्ड अफ्रीकन स्टडीज़, पृष्ठ 421; डी०सी० सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस (संशोधित संस्करण, कलकत्ता, 1965) पृष्ठ 152, पाद टिप्पणी, 1

21- एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड 26, पृष्ठ 60

22- लूडर्स, तत्रैव, पृष्ठ 137

23- जर्नल आफ् यू०पी० हिस्टारिकल सोसाइटी, खण्ड24-25, पृष्ठ 133

24- मार्टियर ह्वीलर, तत्रैव, पृष्ठ 193

25- इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, खण्ड 7, पृष्ठ 37

26- तत्रैव, पृष्ठ 34

27- एपिग्राफिआ इण्डिका, खण्ड 10, पृष्ठ 68

28- तत्रैव, खण्ड 29, पृष्ठ 6

29- तत्रैव, खण्ड 1, अभिलेख क्रम-संख्या 18

30- तत्रैव, खण्ड 19, अभिलेख क्रम संख्या 1

31- के०प्रसाद, तत्रैव, पृष्ठ 99

32- के०प्रसाद, तत्रैव, पृष्ठ 100

33- आर०एस० शर्मा, तत्रैव, पृष्ठांक 222-25

34- फोगेल, कैटलाग आफ् आर्क्योलाजिकल म्यूजियम आफ मथुरा, पृष्ठ 122, क्रम संख्या जी 42

35- एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड 24, पृष्ठ 206

36- तत्रैव, खण्ड 1, पृष्ठ 381

37- वी0एस0 अग्रवाल, पृष्ठांक 321-22

38- जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, ग्रेट ब्रिटेन ऐण्ड आयरलैण्ड, 1915, पृष्ठ 498

39- के0 प्रसाद, तत्रैव, पृष्ठ 103

40- हरिपद चक्रवर्ती, अर्ली ब्राह्मी रेकर्ड्स आफ नार्दर्न इण्डिया, पृष्ठ 30

41- के0 प्रसाद, तत्रैव पृष्ठ 109

42- के0 प्रसाद, तत्रैव, पृष्ठ 109 पाद-टिप्पणी 80

43- एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड 1, पृष्ठ 384

44- एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड 10, एपेण्डिक्स, पृष्ठ 7

45- हरिपद चक्रवर्ती, तत्रैव, पृष्ठ 71

46- के0 प्रसाद, तत्रैव, पृष्ठ 109

47- एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड 17, पृष्ठांक 10 तथा अनुवर्ती पृष्ठ

48- लूडर्स, मथुरा इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ 149

49- एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड 17, पृष्ठ 7

50- दि पेरिप्लस आफ दि एरिथ्रियन सी, पृष्ठ 6

51- मेमायर्स आफ् दि आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ् इण्डिया, अंक 74,

पृष्ठ 185

एंशेण्ट इण्डिया, अंक 1, पृष्ठ 51;

मार्शल, तक्षशिला, खण्ड 3, फलक 125, 134

52- अंगविज्जा, पृष्ठ 163

53- एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड 1, पृष्ठ 385

54- तत्रैव, खण्ड 2, पृष्ठ 203

55- इण्डियन एण्टिक्वेरी, भाग 33, पृष्ठ 107

56- तत्रैव, पृष्ठ 108

57- के0प्रसाद, तत्रैव, पृष्ठ 120

58- आर0एस0 शर्मा, तत्रैव पृष्ठ 228

59- फोगेल, कैटलाग आफ् मथुरा म्यूजियम, 1910, पृष्ठ 90

60- जर्नल आफ् यू0पी0 हिस्टारिकल सोसाइटी, खण्ड 10

1937, पृष्ठांक 4

61- आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया एनुवल रिपोर्ट

1921, पृष्ठ 25

62- एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड 19, पृष्ठांक 96 तथा अनुवर्ती पृष्ठ

63- लूडर्स, तत्रैव, पृष्ठ 169

64- लूडर्स, तत्रैव, पृष्ठ 34

65- एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड 19, पृष्ठ 66

66- कल्याणी दास बाजपेयी, अर्ली इंसक्रिप्शंस आफ़ मथुरा
ए स्टडी, पृष्ठ 121

67- मिलिन्द पन्ह, पृष्ठांक, 3, 27,210

68- आर०सी० शर्मा, मथुरा म्युज़ियम ऐण्ड आर्ट, आकृति 40

69- मथुरा इंसक्रिप्शंस, पृष्ठांक 66-67

70- सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ 175

71- मनुस्मृति 7·20

72- एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड 21, पृष्ठांक 60 तथा अनुवर्ती पृष्ठ

73- तत्रैव, खण्ड 10, एपेण्डिक्स पृष्ठ 11

74- एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड 31, पृष्ठांक 177-178

75- बी०याई स्तेविस्की ऐण्ड बोंगार्ड लेविन, सेन्ट्रल एशिया इन दि कुषाण
पीरियड, पृष्ठ 13

76- बुलेटिन आफ दि स्कूल आफ़ ओरियण्टल ऐण्ड अफ्रीकन स्टडीजं, खण्ड 23,
1960, पृष्ठांक 52-54

77- लूडर्स, मथुरा इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ 137

78- लूडर्स, तत्रैव, पृष्ठ 138

79- आर०एस० शर्मा, तत्रैव, पृष्ठ 419

80- एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड 1 पृष्ठ 383

81- प्राचीन इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय में सुरक्षित, एण्टिक्वटी संख्या के०एस०वी०/आर०एन०इ-1

82- आर०एस० शर्मा, तत्रैव, पृष्ठ 422

83- इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, खण्ड 7, पृष्ठ 30, पादटिप्पणी, 1; बी०एन०पुरी, तत्रैव, पृष्ठ 115

84- दिव्यावदान, पृष्ठांक, 193, 211

85- अवदानशतक, 88, 2; पृष्ठ 79

86- इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, खण्ड 7, पृष्ठ 31

87- मनुस्मृति, 8, 135-36,
विष्णुस्मृति, 4, 11-12

88- दिव्यावदान, पृष्ठ 70

89- बी०एन०पुरी, तत्रैव, पृष्ठ 115

90- जर्नल आफ न्युमिस्मेटिक सोसाइटी आफ इण्डिया, खण्ड 28, पृष्ठांक 84-85

धार्मिक तत्त्व

आलोचित कालावधि बौद्धधर्म के समुन्नयन के लिये सुविख्यात है। प्रस्तुत सन्दर्भ में कौशाम्बी से उपलब्ध ऐसे अभिलेखों को प्रसंगित किया जाना समीचीन प्रतीत होता है, जो बौद्ध धर्म में समाहित होने वाले शकों को संज्ञापित करते हैं। इनमें सर्वप्रथम वह अभिलेख उल्लेखनीय है, जिसे धर्मचक्र प्रस्तर फलक अभिलेख की आख्या प्रदान की गई है, तथा जो सम्प्रति इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग के संग्रहालय में सुरक्षित है। प्रस्तुत अभिलेख घोषिता राम विहार के उत्खनन से प्राप्त हुआ है। अभिलेख में लयक (लियक) नामक शक का प्रसंग है, जिसकी माता मातृला ने उक्त धर्मचक्र प्रस्तर फलक का दान दिया था। इस अभिलेख के सम्पादक जे0एस0 नेगी ने अभिलेखोक्त शक लियक का समीकरण पश्चिम भारत से उपलब्ध अभिलेखों में वर्णित लियक से किया है, जिसे शक नाम माना जाता है।[1] इसी अभिलेख का समस्तरीय एवं समाक्षरीय वह महत्वपूर्ण अभिलेख है, जो घोषिता-राम विहार के उत्खनन में उक्त अभिलेख के साथ प्राप्त हुआ था, तथा जिसे बौद्ध आयागपट्ट-अभिलेख की संज्ञा प्रदान की गई है। स्तर-क्रम एवं पुरालिपि-समीक्षा-दोनों ही मापदण्डों से ये दोनों अभिलेख प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व में रखे जाते हैं। निम्नोक्त कारणों से यह अभिलेख समीक्षा के लिये काफी अनुकूल है: (अ) इसके अक्षर सुडौल एवं सुदर्शन हैं, जिन्हें काफी सावधानी के साथ उट्टंकित किया गया है। (ब) अभिलेख बुधावासे (बुद्धावासे) घोषिता रामे शब्दों को सन्दर्भित करता है, जिससे पालि साहित्य का उल्लेख समर्थित हो जाता है कि कौशाम्बी के घोषित नामक सेठ ने बुद्ध के आवासार्थ एक विहार निर्मापित कराया था, जिसे घोषिताराम की संज्ञा मिली थी।

(3) अभिलेख में सम्बन्धित पूजा-शिला (आयागपट्ट) के दानकर्ता फगुल नामक भिक्षु का प्रसंग है । इसी फगुल का नाम (फगुल) अहिच्छत्रा के अभिलेख में मिलता है । अहिच्छत्रा के सम्बन्धित अभिलेख में इस भिक्षु की शक जाति बताई गई है ।[2] प्रस्तुत कोटि के अन्तर्गत ही कौशाम्बी के घोषिताराम विहार से उपलब्ध मघ-कालीन तीन अभिलेखों को रखा जा सकता है । इनमें पहला अभिलेख एक खण्डित बौद्ध प्रतिमा की पीठिका पर भग्न अवस्था में मिला है । अभिलेख में केवल दो शब्द सुरक्षित हैं । इनकी स्थिति इस प्रकार है :.......सकेन शक.....। सम्भवत: सकेन के पहले "उप" शब्द रहा होगा । अर्थात् आलोचित अभिलेख किसी उपासक शक की दान-क्रिया का उल्लेख करता है, जिसका नाम सुरक्षित नहीं है ।[3] दूसरा अभिलेख भी एक खण्डित प्रस्तर पर भग्न अवस्था में प्राप्त हुआ है । प्रस्तुत अभिलेख हस्थिक के पुत्र नक द्वारा "शाक्यमुनि बुद्ध की प्रतिमा के दान को सन्दर्भित करता है । इस अभिलेख के सम्पादक जे0एस0 नेगी ने हस्थिक शब्द को खरोष्ठी के अभिलेखों में प्रसंगित शक हस्थुन का समस्तरीय माना है । तीसरे क्रम पर संवत्सर 83 को सन्दर्भित करने वाले बोधिसत्त्व की प्रतिमा की पीठिका पर उट्टंकित भद्रमघकालीन दो अभिलेखों को रखा जा सकता है । ये दोनों अभिलेख भी घोषिताराम विहार के उत्खनन से उपलब्ध हुये थे, तथा सम्प्रति इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग के संग्रहालय ~~में सुरक्षित हैं । आलोचित दोनों अभिलेखों में जुवासक एवं जुग्क-पुत्र उग्रक~~ की दान-क्रिया को सन्दर्भित करते हैं । ये नाम शकों के प्रतीत होते हैं ।

जे0एस0 नेगी की समीक्षा के अनुसार उक्त दोनों शब्दों मेंकम-से-कम जुवासक के शक होने की सम्भावना की जा सकती है ।[5]

उक्त अनेक अभिलेख इस तथ्य के प्रमापक हैं, कि आलोचित कालावधि में बौद्ध धर्म अपने विकास के चरमोत्कर्ष को प्राप्त कर रहा था । इसके विस्तृत परिसर में विदेशी जातियों, विशेषतया शकों के समाहार के कारण इसकी वयापनशीलता को सुयोग मिल रहा था । इसके अतिरिक्त आलोचित कालावधि के कुषाणकालीन स्तर के अभिलेखों की समीक्षा से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध धर्म की दो सुप्रसिद्ध शाखाएँ- सर्वास्तिवाद एवं महासंघिक-प्रकाशन में आ चुके थे । सर्वास्तिवाद के सन्दर्भ में यह सुविख्यात है कि इसका मूल सम्बन्ध उस विशेष सम्प्रदाय से है, जिसे स्थविरवाद की संज्ञा प्रदान की जाती है । इसका आविर्भाव महासंघिक सम्प्रदाय के साथ-साथ द्वितीय बौद्ध संगीति के अवसर पर हुआ था । तत्कालीन अभिलेखों में सम्मतीय सम्प्रदाय के उल्लेख भी मिलते हैं, जो वात्सीपुत्रीय सम्प्रदाय के माध्यम से सर्वास्तिवाद से सम्बन्धित था । इन अभिलेखों में प्राय: धर्मगुप्तक सम्प्रदाय का प्रसंग प्राप्त होता है, जो महीशासक सम्प्रदाय के माध्यम से सर्वास्तिवाद से सम्बन्धित था । सम्बन्धित अभिलेखों में बोधिसत्त्व की प्रतिमाओं की चर्चा बार-बार हुई है, वह काफी हद तकसर्वास्तिवादी एवं महासंघिक बौद्ध आचार्यों के क्रिया-कलाप का परिणाम था । इन अभिलेखों में बौद्ध धर्म की गतिशीलता के संज्ञापक अनेक विहारों का उल्लेख मिलता है, जैसे आलानक- विहार, वृतक-विहार, काष्टकीय (काष्ठकीय) विहार, घोषिताराम और पावरियाराम ।

इनमें अनेक विहार महासंघिक आचार्यों की देख-रेख में थे । अभिलेखोक्त देवपुत्र-विहार, प्रावारिक-विहार तथा सौवर्णिक-विहार राज्य-संरक्षित अथवा व्यापारिक संघों द्वारा संरक्षित थे । इन अनेक विहारों में स्थानीय दानकर्त्ताओं के अतिरिक्त वैदेशिक दानकर्त्ताओं की दान-क्रिया के प्रसंग प्राप्त होते हैं ।

आलोचित काल के अभिलेखों में जैन मतावलम्बियों की दान-क्रिया के सन्दर्भ भी मिलते हैं । तत्कालीन जैन धर्म में गृहस्थ एवं भिक्षु एवं भिक्षुणी भी सम्मिलित थे । अनुच्छेदान्तर में अभिलेखोक्त चतुवर्णि-संघ (चतुर्वर्ण-संघ) की चर्चा की जायेगी, जिनमें जैन सम्प्रदाय के चार वर्ग-सम्मिलित थे - भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक बन्धु एवं उपासिका भगिनी । इन अभिलेखो में जैन भिक्षु एवं भिक्षुणियों के विभिन्न वर्गों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिन्हें कुल, गण, शाखा एवं सम्भोग जैसे शब्दों के द्वारा परिभाषित किया गया है । इनका अनुशीलन एवं शब्द-समाधान जैन कल्प सूत्र के स्थलों के द्वारा सन्तोष-जनक रूप में हो जाता है । तत्कालीन अनेक अभिलेख जैन तीर्थंकरों की उपासना के संकेतक साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं, तथा महावीर के अतिरिक्त सम्भवनाथ, शान्तिनाथ, अरिष्टनेमि एवं पार्श्व जैसे तीर्थंकरों को प्रसंगित भी करते हैं । इन्हें "नमो अरहन्तानं", "नमोस्त्वर्हद्भ्य:", "नमो अर्हतो वर्धमानस", "नमो अर्हतो महावीरस" जैसे सम्बोधक वाक्यांश प्राप्त होते हैं, जो जैन परम्परा में सुप्रतिष्ठित हो चुके थे, तथा जिनकी अभिव्यंजना के अनुसार जैन तीर्थंकरों को देवातिरेक स्थान मिला था एवं उपासना के लिये सर्वोपरि माने जाते थे ।

इनकी उपासना के माध्यम के रूप में "आयागपट" एवं "आयागसभा" जैसी पारिभाषिक पूजा-शिला का अभिलेखांकन मिलता है, जो जैन परम्परा में पूर्ण प्रतिष्ठित पूजा-माध्यम के रूप में ग्रहण किया जाता था । सम्बन्धित आभिलेखिक साक्ष्य नैगमेष की उपासना को सुव्यक्त कर देता है । जैसा कि परिच्छेदान्तर में दिखाया जायगा, जैन कल्पसूत्र में वर्णित नैगमेष-आख्यान के समर्थनार्थ प्रस्तुत अभिलेखीय साक्ष्य को ठोस प्रमाण के रूप में ग्रहण किया जा सकता है ।

भागवत धर्म के सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि आलोचित कालावधि के कुषाणकालीन स्तर के अभिलेखीय साक्ष्य अभी भविष्यत्कालीन शोधों की सफलता पर निर्भर हैं, किन्तु प्रथम शताब्दी ईसापूर्व की स्थिति का मूल्यांकन सम्बन्धित अभिलेखीय साक्ष्यों के सन्दर्भ में किया जा सकता है । इस कोटि के द्योतक दो अभिलेख उल्लेखनीय हैं । ये दोनों ही अभिलेख मथुरा में मोरा नामक स्थान से उपलब्ध हुये थे । इन दोनों अभिलेखों में उत्तर क्षत्रप नरेश शोडास का प्रसंग आता है । मोरा के कूप-अभिलेख में भागवत धर्म के वृष्णि पंचवीरों के सम्मानार्थ उनकी प्रतिमा-प्रतिष्ठापना सन्दर्भित है ।[6] मोरा का द्वारांकित अभिलेख भगवान् वासुदेव के सम्मानार्थ देवकुल, तोरण एवं वेदिका के निर्माण का उल्लेख करता है । अनुच्छेदान्तर में यह चर्चित किया जायगा कि कुषाणों का भागवत धर्म की ओर आग्रह उनके कतिपय मुद्राओं के साक्ष्य से सम्भावित बन बैठता है । अतएव इस आशय के द्योतक आभिलेखिक साक्ष्य की उपलब्धि असम्भाव्य नहीं मानी जा सकती है । अनुच्छेदान्तर में आलोचित कालावधि से सम्बन्धित चार ऐसे अभिलेखों को विमर्श का विषय

बनाया जायगा, जिनके आधार पर इस कालान्तराल में शैव धर्म की लोक प्रियता का मूल्यांकन किया जा सकता है । सम्बन्धित अभिलेख यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि आलोचित कालावधि में वैदिक धर्म (प्रकारान्तर से ब्राह्मण धर्म) की गतिशीलता अवरूद्ध नहीं हुई थी । अश्वमेध-आहरण के संज्ञापक अभिलेख मिल चुके हैं । इनके आधार पर ऐसा निष्कर्ष निकालने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है कि आलोचित कालावधि में ब्राह्मण-परम्परा एवं ब्राह्मेतर परम्परा बिना किसी परस्परा विरोध के सहचर के रूप में गतिमान्ध नहीं हो सके थे ।

लोक-धर्म के सन्दर्भ में आलोचित कालावधि से सम्बन्धित अभिलेख नाग-उपासना, यक्ष-पूजा एंव मातृ-उपासना पर प्रकाश डालते हैं । यह उल्लेखनी भी स्मरणीय है कि अभिलेखीय विवरण में प्राय: नागों की प्रतिमा-प्रतिष्ठापना का सम्बन्ध जलाशयों से माना गया है । इस मन्तव्य की पृष्ठभूमि में वह विशेष पारम्परिक अवधारणा क्रियाशील थी, जिसके अनुसार नागों को जलाशय का अधिष्ठातृ देवता माना जाता था । यक्ष-उपासना के सन्दर्भ में जो विशेष तथ्य इन अभिलेखों से परिलक्षित होता है कि कभी-कभी शक्ति-समुत्कर्ष अथवा महत्त्व के कारण सामान्य मानव को भी यक्ष-सम माना जाता था । मातृ-उपासना के सन्दर्भ में इन अभिलेखों से ग्राम-देवी की उपासना प्रतिभासित होती है, जिसे ग्राम-संरक्षिका के रूप में ग्रहण किया जाता था ।

आलोचित अवधि के अभिलेखों से राजशक्ति का दैवीकरण भी प्रतिभासित होता है । ऐसे अनेक अभिलेख मिल चुके हैं, जिनमें राज-प्रतिमा

*है कि लोकधर्म के सन्दर्भ में अभिलेखीय विवरण समकालीन साहित्य एवं प्रतिमा-परक साक्ष्य के सन्निकर्ष में है। यह—

के देवकुल में प्रतिष्ठापना के संकेतक साक्ष्य सन्निहित हैं । इसी पृष्ठभूमि के परिणाम में दिवंगत नरेशों की उपासना की प्रवृत्ति का विकास हुआ था । सामान्यतया यह मानते हैं कि भारत में इसे कुषाण-नरेशों ने आयातित किया था । किन्तु, यह असम्भाव्य नहीं है कि इसका प्रचलन प्राक् कुषाण काल में भी रहा होगा । इस आशय के प्रमापक साक्ष्य साहित्य में ढूँढे जा सकते हैं । इसके अतिरिक्त, तत्कालीन ऐसे आभिलेखिक साक्ष्य प्रस्तावित किये जा सकते हैं, जिनके अनुसार राज्य-शासन के संचालक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की प्रतिमाएँ भी देवकुलों में प्रतिष्ठापित की जाती थीं ।

उक्त अनुच्छेदों में आलोचित काल के अभिलेखों से सुव्यक्त होने वाले धार्मिक तत्वों का सामान्य परिचय देने के उपरान्त, वक्ष्यमाण अनुच्छेदों में सम्बन्धित अभिलेखों की विस्तृत समीक्षा की जायेगी जिनके द्वारा तत्कालीन धर्म के विविध पक्षों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है ।

सर्वप्रथम मथुरा एवं कौशाम्बी से उपलब्ध उन अभिलेखों की समीक्षा की जायेगी, जो आलोचित कालावधि में बौद्ध धर्म की समुन्नत स्थिति पर प्रकाश डालते हैं । इस कोटि के निम्नोक्त अभिलेख विषय-विमर्श के लिये अनुकूल प्रतीत होते हैं :

(1) <u>मथुरा के माता द्वार से उपलब्ध खण्डित अभिलेख</u> :

सम्प्रति यह अभिलेख मथुरा-संग्रहालय में सुरक्षित है ।[7] अभिलेख की मूल पंक्ति इस प्रकार है: ...... पितो चूतकविहार व्यास्ता महासंघिकन धर्मविल......क्षरणिक । अभिलेखांकित पंक्ति चूतकविहार में रहने वाले

महासंघिकों के निमित्त किये गये किसी दानक्रिया को सन्दर्भित करता है ।

(2) मथुरा के भरतपुर द्वार से उपलब्ध खण्डित अभिलेख :

प्रस्तुत अभिलेख में आपानक विहार में महासंघिकों के निमित्त किये गये किसी दान क्रिया का प्रसंग प्राप्त होता है ।[9]

(3) मथुरा के अन्योर नामक स्थान से उपलब्ध बौद्ध प्रतिमा पर अंकित अभिलेख :

अभय मुद्रा में आसीन बुद्ध प्रतिमा की पीठिका पर अंकित ~~प्रस्तुत~~ प्रस्तुत अभिलेख आचार्यों एवं महासंघिकों के स्वीकारार्थ दान-क्रिया को सन्दर्भित करता है ।[10]

(4) वर्ष 16 को सन्दर्भित करने वाला बौद्ध प्रतिमा पर अंकित अभिलेख:

सम्प्रति यह अभिलेख मथुरा-संग्रहालय में सुरक्षित है । इसके प्राप्ति-स्थान के विषय में कोई निश्चित सूचना नहीं है । इसमें किसी नागदत्त नामक भिक्षु के द्वारा काष्ठकोय विहार में महासंघिकों के स्वीकारार्थ दान-क्रिया का उल्लेख मिलता है ।[11]

(5) मथुरा के पालिखेड़ा से उपलब्ध पाषाण-कमण्डलु का अभिलेख :

प्रस्तुत अभिलेख में महासंघिकों के स्वीकारार्थ पाषाण-कमण्डलु के दान का प्रसंग मिलता है ।[12]

(6) मथुरा-संग्रहालय में सुरक्षित बौद्ध प्रतिमा-अभिलेख:[13]

प्रस्तुत अभिलेख आपानक विहार में निवास करने वाले महासंघिकों के स्वीकारार्थ दान को प्रसंगित करता है ।

(7) मथुरा के कंसखर से प्राप्त बौद्ध प्रतिमा-अभिलेख:[14]

प्रस्तुत अभिलेख क्रौष्टिकीय विहार में नागदत्त नामक भिक्षु द्वारा महासंघिक सम्प्रदाय के आचार्यों के स्वीकारार्थ बौद्ध प्रतिमा के दान का उल्लेख करता है।

उल्लेखनीय है कि उक्त सभी अभिलेख कुषाणकालीन है, तथा इनसे यह सुव्यक्त हो जाता है कि तत्कालीन मथुरा में महासंघिकों का सम्प्रदाय सुप्रतिष्ठित हो चुका था। इस सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि ऐसी वस्तुस्थिति मथुरा में उत्तरी क्षत्रपों के काल से ही चली आ रही थी। इस आशय के निदर्शनार्थ मथुरा से उपलब्ध उस सिंहशीर्ष अभिलेखों को प्रसंगित किया जा सकता है, जो खरोष्ठी में उट्टंकित हैं तथा जिनमें उत्तरी क्षत्रप नरेश रंजुवुल (लगभग 1-15 ईस्वी) तथा शोडास (लगभग 10-25 ईस्वी) का सन्दर्भ मिलता है।[15] प्रस्तुत अभिलेख में बुद्धिल नामक सर्वास्तिवादी आचार्य का उल्लेख मिलता है, जो महासंघिकों को सत्य का उपदेश देने के लिये नागर नामक स्थान से मथुरा आया था।

मथुरा के अतिरिक्त कौशाम्बी भी इस कालावधि में महासंघिक सम्प्रदाय का एक महत्वपूर्ण केन्द्र प्रतीत होता है। घोषिताराम विहार से उत्खनित ऐसे तीन अभिलेख हैं, जो उक्त आशय को सत्यापित करते हैं। ये तीनों अभिलेख मघ-शासक भद्रमघ के वर्ष 33 को प्रसंगित करते हैं। सम्प्रति ये अभिलेख प्राचीन इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संग्रहालय में सुरक्षित हैं।[16] तीनों ही अभिलेखों में महासंघिकों के स्वीकारार्थ बोधिसत्त्व की प्रतिमा के दान का प्रसंग प्राप्त होता है।

उक्त आभिलेखिक साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोचित कालावधि में बौद्ध धर्म मथुरा सहित पूरे अन्तर्वेदी में समुन्नत अवस्था को प्राप्त था ।

महासंघिक सम्प्रदाय के अतिरिक्त तत्कालीन अभिलेख सर्वास्तिवाद के प्रचलन के संकेतक साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं । इनमें निम्नोक्त अभिलेख उल्लेखनीय हैं :

(1) वर्ष 74 को सन्दर्भित करने वाला मथुरा के कामन नामक स्थान से उपलब्ध बौद्ध प्रतिमा अभिलेख :

प्रस्तुत अभिलेख मिहिर विहार में सर्वास्तिवादी आचार्यों के स्वीकारार्थ भिक्षु नन्दिक के द्वारा भगवान् शाक्यमुनि की प्रतिमा के दान को प्रसंगित करता है ।[17]

(2) मथुरा के कटरा नामक स्थान से उपलब्ध बोधिसत्त्व-प्रतिमा पर उट्टंकित भग्न अभिलेख :[17]

प्रस्तुत अभिलेख में किसी नन्दा नामक उपासिका का उल्लेख मिलता है, जिसने सर्वास्तिवादिन् आचार्यों के स्वीकारार्थ बोधिसत्त्व-प्रतिमा का दान दिया था । ध्यातव्य है कि अभिलेख में "नन्दाये" शब्द के तुरन्त बाद "क्षत्रपस" शब्द अंकित है । अतएव लूडर्स ने इसे उत्तरी क्षत्रपों के काल (लगभग प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व) से सम्बन्धित किया है । किन्तु दो अवधारणाओं के कारण इसे कुषाण-काल में ही रखना उचित प्रतीत होता है । एक तो इसके

अक्षरों की शिल्प-विधि कुषाण-कालीन ब्राह्मी की स्मरण दिलाती है । इस खण्डित अभिलेख के सुरक्षित अक्षरों में "य" की ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता है । अभिलेख में इस अक्षर के बाँए भाग को अन्तर्मुखी वर्तुल रेखा का रूप दिया गया है ꟷ । इस आकृति से कुषाण-कालीन विशेषता अभिव्यक्त होती है । उत्तरक्षत्रपीय ब्राह्मी में इसके वामभागीय वर्त्तुल रेखा को अन्तर्मुखी नहीं बनाया जाता था ꟷ । दूसरी अवधारणा का आधार-भूत तत्व है, अभिलेख में "क्षत्रपस" शब्द का प्रयोग । यह सम्भावित है कि इस अभिलेख में क्षत्रपस की अभिव्यंजना वही है, जो सारनाथ के भिक्षुणी बुद्धमित्रा द्वारा समर्पित बौद्ध प्रतिमा की है । अभिलेख के अनुसार इस प्रतिमा को बुद्धमित्रा ने दो क्षत्रपों की उपस्थिति में समर्पित किया था । आलोचित अभिलेख में सन्दर्भित क्षत्रप, जिसका नाम और विवरण सुरक्षित नहीं हैं, कुषाणों का ही कोई प्रान्तपति था । जिस प्रकार बुद्धमित्रा को सन्दर्भित करने वाले अभिलेख में दोनों क्षत्रप कनिष्क के प्रान्तपति माने गये हैं ।

आलोचित कालावधि से सम्बन्धित मथुरा से उपलब्ध दो ऐसे अभिलेख विमर्शित किये जा सकते हैं, जिनसे मथुरा-क्षेत्र में समितीय (सम्मतीय) एवं धर्मगुप्तक सम्प्रदाय के प्रचलन का आकलन किया जा सकता है । इनमें प्रथम अभिलेख गज्याट-कूप से प्राप्त हुआ था ।[18] यह अभिलेख सम्प्रति खण्डित स्थिति में है । इसमें किसी दानकर्त्ता (नाम सुरक्षित नहीं है के द्वारा "सभी बुद्धों के सम्मान में" समितीय (सम्मतीय) आचार्यों के स्वीकारार्थ किसी दान-क्रिया का सन्दर्भ प्राप्त होता है । इसके अतिरिक्त इसमें

श्रीविहार नामक बौद्ध विहार भी सन्दर्भित हुआ है। दूसरा अभिलेख सम्प्रति मथुरा-संग्रहालय में सुरक्षित है।[19] प्रस्तुत अभिलेख में सुवर्णकार धर्मक की धर्मपत्नी को सन्दर्भित करते हुये कहा गया है कि उस नागपिया नामक उपासिका ने धर्मगुप्तक सम्प्रदाय के आचार्यों के स्वीकारार्थ अपनी चैत्य-कुटी में बोधिसत्त्व की प्रतिमा की प्रतिष्ठापना की थी।

मथुरा एवं कौशाम्बी में बौद्ध धर्म, विशेषतया महायान सम्प्रदाय के प्रचलनार्थ संकेतक साक्ष्यों का मूल्यांकन आभिलेखिक प्रसंगों के बौद्ध विहारों के आधार पर भी किया जा सकता है। मथुरा से उपलब्ध अभिलेख निम्नोक्त विहारों को अभिव्यंजित करते हैं : प्रावारिक-विहार, वृतंक-विहार, श्रीविहार, सौवर्णिक विहार, सक्क-विहार, वेण्ड-विहार, काष्टकीय-विहार, रोशि-विहार, गुह-विहार, आलानक-विहार, तथा देवपुत्र-विहार।[20] कौशाम्बी के उत्खनन से उपलब्ध अनेक अभिलेख घोषिताराम विहार को सन्दर्भित करते हैं। इनमें भद्रमघ के संवत्सर 83 को सन्दर्भित करने वाला अभिलेख महासंघिक सम्प्रदायसेसम्बन्धित है।[21] धरातल से उपलब्ध भीमवर्म्मन् के संवत्सर 122 को सन्दर्भित करने वाला अभिलेख पावरियाम-विहार का उल्लेख करता है।[22] सम्भवत: यह अभिलेख भी महासंघिक सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। मथुरा का श्रीविहार सम्मतीय आचार्यों से सम्बन्धित था, जिसकी चर्चा उक्त अनुच्छेद में की जा चुकी है। देवपुत्र-विहार, प्रावारिक-विहार, सौवर्णिक-विहार, घोषिताराम (विहार) तथा पावरियाराम ऐसे नाम हैं, जिनसे यह सुव्यक्त हो जाता है कि अधिकांश बौद्ध विहार या तो राजसंरक्षित थे अथवा इनके संरक्षण का दायित्व व्यापारियों (के संघ) पर था।

आलोचित कालावधि के अभिलेख अन्तर्वेदी के कम-से-कम मथुरा क्षेत्र में जैन धर्म की समुन्नत स्थिति पर प्रकाश डालते हैं। इनमें अधिकांश अभिलेख तीर्थंकर-उपासना को अभिव्यंजित करते हैं। इस कोटि के अभिलेखों में निम्नोक्त उल्लेखनीय हैं : (1) महाराज हुविष्क के वर्ष 48 को सन्दर्भित करने वाला कंकाली टीला का जैन प्रतिमा अभिलेख :[23] प्रस्तुत अभिलेख किसी यशा के द्वारा सम्भव की प्रतिमा-प्रतिष्ठापना को प्रसंगित करता है। जैन परम्परा में सम्भवनाथ को तृतीय तीर्थंकर माना गया है। (2) कंकाली टीला से उपलब्ध जैन प्रतिमा अभिलेख :[24] प्रस्तुत अभिलेख किसी शुचित नामक व्यक्ति की धर्मपत्नी के द्वारा भगवान् शान्तिनाथ की प्रतिमा-प्रतिष्ठापना को प्रसंगित करता है। जैन परम्परा में शान्तिनाथ को सोलहवाँ तीर्थंकर माना गया है। (3) वर्ष 18 को सन्दर्भित करने वाला जैन प्रतिमा अभिलेख :[25] प्रस्तुत अभिलेख में मित्रश्री के द्वारा भगवान् अरिष्टनेमि की प्रतिमा-प्रतिष्ठापना का उल्लेख प्राप्त होता है। जैन परम्परा में अरिष्टनेमि को बाइसवाँ तीर्थंकर माना गया है। (4) कंकाली टीला से उपलब्ध जैन प्रतिमा अभिलेख :[26] प्रस्तुत अभिलेख खण्डित अवस्था में प्राप्त हुआ है। इसमें अर्हत पार्श्व की प्रतिमा-प्रतिष्ठापना का प्रसंग मिलता है। जैन परम्परा में पार्श्व को तेईसवाँ तीर्थंकर माना गया है।

उक्त अभिलेखों के अतिरिक्त मथुरा के सर्वेक्षण-शोधों से कम-से-कम बारह ऐसे अभिलेख प्राप्त हो चुके हैं, जो आलोचित कालावधि से सम्बन्धित हैं, तथा जिनमें महावीर को उपासना का विषय सन्दर्भित किया गया है।[27] इनमें महावीर को वर्द्धमान के नाम से प्रसंगित किया गया है। जैन परम्परा में

इन्हें अन्तिम तीर्थंकर माना गया है ।

इन सभी तीर्थंकरों को आलोचित अभिलेखों में "अर्हत", "जिन", "सिद्ध" और "भगवत्" जैसे शब्दों से सम्बोधित किया गया है । इनके सम्मानार्थ "नमो अर्हन्तानं", "नमोस्त्वर्हद्भ्यः"[29], "नमो अर्हतो वर्धमानस", तथा "नमो अर्हतो महावीरस"[30] जैसे सम्बोधक शब्दों से विशेषित किया गया है । इन शब्दों से यह स्पष्ट हो जाता है कि तीर्थंकरों को अतिकाम एवं अतिमानव के रूप में ग्रहण किया जाता था । जैन परम्परा में तीर्थंकरों को अतिदैविक घोषित किया गया है, तथा इन्हें उपासना का सर्वोच्च विषय माना गया है ।[31]

तीर्थंकर-उपासना का सर्वाधिक प्रचलित माध्यम वह विशेष प्रकार की शिला थी, जिसे जैन परम्परा में आयागपट्ट की संज्ञा प्रदान की गई है । बूलर की समीक्षा के अनुसार आयागपट एक ऐसा पाषाण-फलक होता था, जिसे आलंकारिक रूप में तक्षित किया जाता था, जिस पर "जिन" का प्रतीकांकन प्रदर्शित रहता था । अभिलेखों में इसके लिये पूजा के फलक के रूप में वर्णित किया गया है । "अर्हतों की उपासना के लिये समर्पित" जैसा वाक्य इसके पावन प्रारूप को अभिव्यक्त करता है । सामान्यतया इसे जैन कला का विशिष्ट अंग माना गया है, तथा ऐसी स्थापना की गयी है कि जैनेतर सम्प्रदायों में इसके प्रचलन के संकेतक साक्ष्य नहीं मिलते हैं ।[32] बूलर के अनुसार इसका समस्तरीय बौद्ध शिलाफलक "उध्पट" (ऊर्ध्वपट) कहा जाता था ।[33] इस सन्दर्भ में ए० फूहरर ने हमारा ध्यान अहिच्छत्रा के एक बौद्ध विहार से

उपलब्ध बौद्ध आयागपट की ओर आकर्षित किया है । इसके मध्य में एक पूर्ण कमल को प्रदर्शित किया गया है, जिसके चतुर्दिक अलंकृत त्रिशूलों का अंकन मिलता है । इसे बूलर ने जैन आयागपट की समीक्षा में सन्दर्भित किया है ।[34] किन्तु इस खोज की अभिव्यंजना के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि इसे न तो कहीं प्रकाशित किया गया है और न इसके सुरक्षा-स्थान के विषय में ही कोई सूचना मिलती है । तुलनात्मक दृष्टि से आयागपट के उपरान्त जैन सम्प्रदाय से सम्बन्धित पूजा के माध्यम जिन शब्दों के अभिलेखीय सन्दर्भ मिलते हैं, वे हैं आयागसभा, शिलापट एवं तोरण । सामान्यतया इन अभिलेखों में आयागसभा एवं शिलापट का संयुक्त वर्णन प्राप्त होता है । आयागसभा का अर्थ उपासना-कक्ष माना गया है, तथा शिलापट को प्रतिमांकित प्रस्तर-खण्ड के रूप में ग्रहण किया गया है ।[35] तोरण के सन्दर्भ में वह विशेष अभिलेख उल्लेखनीय है, जिसमें किसी श्रमण-श्राविका लक्ष्मी के द्वारा अर्हतों के सम्मानार्थ तोरण-दान की चर्चा प्राप्त होती है । सम्भवतः यहाँ तोरण का तात्पर्य तोरण-द्वार से है ।[36]

ध्यातव्य है कि आलोचित कालावधि के अभिलेख जैन सम्प्रदाय में प्रतिमा-पूजा के प्रचलन पर भी प्रकाश डालते हैं । ऐसी स्थापना की गई है कि प्रतिमा-उपासना की प्रथा को जैन सम्प्रदाय में ब्राह्मण-धर्म से अपनाया गया था, तथा आगे चलकर इसे बौद्धों ने अपना लिया था ।[37] किन्तु इस अवधारणा की आदरणीयता संशयशील है । खारवेल के हाथीगुम्फा के अभिलेख से अभिव्यक्त होता है कि मगध के नन्दराज द्वारा कोई जैन प्रतिमा कलिंग से अपहृत कर ली गई थी, जिसे खारवेल पुनः कलिंग लाया था ।[38] अतएव जैन

प्रतिमा के निर्माण-परम्परा का समय चतुर्थ शताब्दी ईसा पूर्व मानने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है । इसी सन्दर्भ में पटना के लोहानीपुर से प्राप्त प्रतिमा का उल्लेख किया जा सकता है । के०पी० जायसवाल ने इसका समीकरण जैन प्रतिमा से किया है, तथा इसका समय चतुर्थ शताब्दी ईसा पूर्व माना है ।[38] यद्यपि आलोचित काल की अनेक जैन मूर्तियाँ अभिलेख-रहित अथवा अभिलेख-सहित मथुरा के भिन्न-भिन्न भागों से प्राप्त हुई हैं, तथापि अभिलेखीय सन्दर्भ सर्वतोभद्रिका प्रतिमा के विषय में अधिकांशत: उपलब्ध हुये हैं । इस कोटि के द्योतक भूतेश्वर एवं कंकाली टीला के चार अभिलेख वर्णित किये जाते हैं, जिनमें "अर्हत" की सर्वतोभद्रिका प्रतिमा के संज्ञापक सन्दर्भ सन्निबद्ध मिलते हैं ।[39] इन सन्दर्भों से यह सुव्यक्त हो जाता है कि जैन सम्प्रदाय में यदि एक ओर तीर्थंकरों की ऐकान्तिक प्रतिमा-उपासना का प्रचलन था, तो दूसरी ओर उस सर्वतोभद्रिका-प्रतिमा की पूजा भी प्रचलित थी, जिसमें ऐसे स्तम्भ को स्थापित किया जाता था, जिसके शिरोभाग पर चतुर्दिक प्रतिमा प्रदर्शित रहती थी ।

आलोचित कालावधि के दो ऐसे अभिलेख उपलब्ध हुये हैं, जिनसे यह अभिव्यंजित हो जाता है कि जैन सम्प्रदाय में विदेशी भी सम्मिलित हुये थे । इनमें पहला अभिलेख महावीर की प्रतिमा की प्रतिष्ठापना करने वाले दान-कर्त्ताओं के नामार्थ ओखरिका, उज्ञतिका, ओघा, श्रीका एवं शिवदिना को सन्दर्भित करता है । दूसरा अभिलेख ओखरिका के द्वारा वर्द्धमान की प्रतिमा-प्रतिष्ठापना प्रसंगित करता है । ओखरिका के पिता एवं माता का नाम

क्रमशः दमित्र एवं दत्ता बताया गया है ।[40] अभिलेख में (शक) संवत् 84 सन्दर्भित है, अर्थात् इसे 162 ईस्वी का माना जा सकता है । लूडर्स की समीक्षा के अनुसार उक्त सभी नाम विदेशियों के हैं ।[41]

सम्बन्धित अभिलेखों से अभिव्यज्यमान जैन धर्म की अन्य विशेषताएँ वक्ष्यमाण हैं :

(1) जैन सम्प्रदाय में स्त्रियों की दीक्षा प्रतिबन्धित नहीं थी । इस आशय का द्योतक सबसे महत्वपूर्ण वह अभिलेख है, जो (शक) संवत् 62 को सन्दर्भित करता है तथा सम्प्रति कलकत्ता के संग्रहालय में सुरक्षित है । अभिलेख एक जैन प्रतिमा पर उट्टंकित है । अर्हतों एवं सिद्धों के प्रार्थनोपरान्त किसी वैहिका के द्वारा "चतुर्वर्ण-संघ" को प्रतिमा दान अभिलेखांकित हुआ है । चतुर्वर्ण-संघ को श्वेतांबर-विशिष्ट चतुर्विध-संघ से समीकृत किया गया है । ऐसे संघ में भिक्षु, भिक्षुणी के अतिरिक्त गृहस्थ उपासक एवं उपासिकाएँ सम्मिलित किये जाते थे ।[42]

(2) जैन धार्मिक संघ में अनेक वर्ग एवं उपवर्ग का आविर्भाव हो चुका था । इनके द्योतक महत्वपूर्ण शब्द हैं, गण[43], कुल[44], शाखा एवं सम्भोग[45] । बूलर की समीक्षा के अनुसार जैन धार्मिक संघ का ऐसा वर्गीकरण जैन धर्म की निजी विशेषता थी, अन्य धर्मों में ऐसा वर्गीकरण नहीं प्राप्त होता है ।[46] याकोबी की समीक्षा के अनुसार इन शब्दों का वास्तविक अर्थ क्या हो सकता है, यह निश्चित नहीं किया जा सकता है । इनके अनुसार गण का सम्बन्ध मूल आचार्य से माना जा सकता है, कुल का तात्पर्य मूल आचार्य से

सम्बन्धित अनुवर्ती आचार्य-परम्परा से है, "शाखा" का तात्पर्य प्रत्येक आचार्य से निकली हुई शाखा से माना जा सकता है।[47] सम्भोग शब्द की व्याख्या करते हुये, डी०सी० सरकार ने इसका तात्पर्य जैन सम्प्रदाय का विशिष्ट वर्ग माना है।[48]

(3) जैन सम्प्रदाय में एक ही व्यक्ति एक से अधिक धार्मिक पद का अधिकारी बन सकता था। उदाहरण के लिये संवत् 50 को सन्दर्भित करने वाले जैन प्रतिमा-अभिलेख में दिनार को बहत (वृहत्) वाचक (उपदेशक) के अतिरिक्त वारण गण का गणिन् भी घोषित किया गया है।[49] इसी प्रकार संवत् 20 को सन्दर्भित करने वाले जैन-प्रतिमा अभिलेख में जामित्र को बृहंत-वाचक (श्रेष्ठ उपदेशक) के अतिरिक्त कोट्टिय गण का गणिन् भी घोषित किया गया है।[50]

यह उल्लेखनीय है कि अभिलेखीय सन्दर्भों के उक्त शब्दों का समानुपातिक सन्दर्भ "स्थविरों" की सूची समावेशित करने वाले जैन कल्पसूत्र में भी प्राप्त होता है।[51] अतएव सामान्य निष्कर्ष यही निकाला जा सकता है कि आलोचित कालावधि में जैन धर्म एक सुगठित एवं सुव्यवस्थित सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित था।

प्रस्तुत एवं अनुवर्ती अनुच्छेदों में ऐसे अभिलेखों की चर्चा की जायेगी जो आलोचित कालावधि में अन्तर्वेदी-क्षेत्र में शैव धर्म के प्रचलन को सत्यापित करते हैं। इनमें पहला अभिलेख है, जो मथुरा के टोकरी टीला से प्राप्त हुआ था[52]। अभिलेख खण्डित अवस्था में है, तथा एक ऐसी प्रतिमा की पीठिका पर उट्टंकित है जिसका समीकरण किसी अनिश्चित कुषाण-शासक से

किया गया है । सम्बन्धित पंक्ति जो शैव धर्म के इतिहास के अंकनार्थ उपयोगी है, निम्नोक्त है: "सत्यधर्मस्थितस्य नान्यत् शर्वभ्रुडवीरातिसृष्टस्य" । लगभग समस्तरीय एवं समानार्थक पंक्ति विम काडफिसीज की मुद्राओं पर भी प्राप्त होती है । इसके अतिरिक्त आलोचित अभिलेख की अनुवर्ती पंक्ति का पाठ इस प्रकार है, "महाराज राजाति राजदेवपुत्रस्य हुविष्कस्य पितामहस्य" । अतएव अभिलेखांकित प्रतिमा को विम काडफिसीज के साथ समीकृत करने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है । भीटा से उपलब्ध एक अभिलेखांकित मुहर पर लगभग इसी प्रकार की निम्नांकित पंक्ति मिलती हैं :"महेश्वरमहासेनाति-सृष्ट राज्यस्य" । बूलर के अनुसार अभिलेख-पंक्ति का तात्पर्य ऐसे शासक-विशेष से है, जिसने अपने राज्य को महासेन (कार्त्तिकेय) को समर्पित करने का निश्चय किया था ।[53] सम्भवत: यह वैदूष्यपूर्ण सुझाव प्रसंगानुकूल है कि प्राचीन काल में ऐसी पावन परम्परा प्रचलित थी कि अपने राज्यारोहण के समय शासक राज्य को अपने इष्टदेवता को समर्पित कर स्वयं को केवल शासनार्थ उसका प्रतिनिधि मानता था ।[54] जहाँ तक आलोचित अभिलेख-पंक्ति का प्रश्न है, इसमें प्रयुक्त शर्व शब्द पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है । वैदिक एवं वेदोत्तर साहित्य में शिव के नामार्थ अनेकत्र एवं अनेकश: शर्व शब्द का प्रयोग हुआ है ।[55] इस समीक्षा से यह प्राय: सुव्यक्त हो जाता है कि हुविष्क का पितामह विम काडफिसीज शिव का उपासक था, तथा वह अपना राज्यारोहण शिव का वरदान मानता था ।

आलोचित कालावधि में शैव धर्म के प्रचलन के सत्यापनार्थ एक अन्य महत्वपूर्ण अभिलेख को चर्चित किया जा सकता है । प्रस्तुत अभिलेख मथुरा के समीप चौरासी नामक गाँव से प्राप्त हुआ था । लिपि-विषयक समीक्षा के आधार पर इसके सम्पादक आर०सी० शर्मा ने इसे पूर्वकालीन कुषाण स्तर पर रखा है ।[56] इस अभिलेख में किसी दानकर्त्ता के द्वारा शिव के अराधनार्थ जलाशय, उद्यान एवं मन्दिर का निर्माण सन्दर्भित हुआ है । अभिलेखीय सन्दर्भ यह भी सत्यापित कर देते हैं कि आलोचित कालावधि में कार्त्तिकेय की उपासना शैवधर्म के अनन्य अंग के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी । इस प्रसंग में संवत् 11 को सन्दर्भित करने वाले कनिष्क कालीन उस अभिलेख-विशेष का उल्लेख किया जा सकता है जो मथुरा के कंकाली टीला नामक स्थान से उपलब्ध हुआ था । अभिलेख में ऐसा प्रसंगति है कि किसी क्षत्रिय शिवल के चार पुत्रों ने अपने गृहान्तर्भाग में भगवान् कार्त्तिकेय की प्रतिमा को प्रतिष्ठापित किया था । इस अभिलेख का प्रकाशन एम०एम०नागर ने यू०पी० हिस्टारिकल सोसाइटी के एक पूर्वकालीन खण्ड में किया था ।[57] सम्भवत: यह अभिलेख उस अभिलेख से भिन्न है, जिसे आर०सी० शर्मा[58] एवं बी० एन० मुखर्जी ने[59] किया है, तथा जिसे कार्त्तिकेय की प्रतिमा की पीठिका पर उट्टंकित किया गया है ।

कार्त्तिकेय-उपासना के अतिरिक्त आलोचित कालावधि में शैव धर्म के प्रचलन का संकेतक वह विशेष अभिलेख है जो मथुरा के गिगला नामक स्थान से उपलब्ध हुआ था, तथा शिवलिङ्ग पर उट्टंकित है । यद्यपि यह अभिलेख भग्न अवस्था में प्राप्त हुआ है, तथापि इसकी अन्तिम दो पंक्तियाँ सुरक्षित हैं ।

इनके आधार पर सम्बन्धित काल में लिङ्ग-पूजा के प्रचलन का मूल्यांकन किया जा सकता है । लिपि-विषयक समीक्षा के आधार पर अभिलेख के सम्पादक वी०एस० अग्रवाल ने इसे कुषाण-काल में रखा है ।[60] सुरक्षित पंक्तियों में प्रसंगानुकूल शब्द हैं, "जटेश्वरो प्रतिष्ठापितो" । जटेश्वर शब्द ईश्वरान्त है लिङ्ग के रूपमेंप्रतिष्ठापित एवं उपासना के विषय शिव का संज्ञापन ईश्वरान्त शब्द से किया जाता था । सम्भवत: जैसा कि वी०एस० अग्रवाल ने स्थापना किया है ईश्वरान्त शब्द से सम्बोधित किये जाने वाले शिव के लिये यह सर्वाधिक प्राचीन पुरातत्व-सुलभ साक्ष्य माना जा सकता है ।

अन्तर्वेदी के दूसरे महत्वपूर्ण केन्द्र एवं बौद्ध धर्म की ताना-बाना के विस्तारक कौशाम्बी में आलोचित कालावधि में शैव धर्म की क्या स्थिति थी, इसे स्पष्ट करने के लिये पुरातत्व-सुलभ साक्ष्यों का सर्वथा अभाव है । इसका एकमात्र सम्भावित कारण यही है कि अभी तक कौशाम्बी का क्षैतिज उत्खनन नहीं किया जा सका है । यद्यपि-सुव्यवस्थित वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार कौशाम्बी के विभिन्न खण्डों का शैर्षिक उत्खनन किया जा चुका है, तथापि क्षैतिज अथवा क्षैतिज-मिश्र-शैर्षिक उत्खनन के अभाव के कारण अभी बहुत सी ऐतिहासिक समस्याएँ उलझी हुई हैं । बौद्ध धर्म की प्रकर्षता के बावजूद, कौशाम्बी में शैव धर्म सम्भवत: अपकर्ष की स्थिति में नहीं था । इस आशय का द्योतक कम-से-कम एक महत्वपूर्ण अभिलेख अवश्य प्रकाश में आ चुका है । प्रस्तुत अभिलेख धरातल से प्राप्त हुआ था । प्रस्तर-खण्ड पर उट्टंकित यह अभिलेख मघ नरेश शिवमघ को प्रसंगित करता है ।[61] अभिलेखांकित दानकर्त्ताओं में

शंकरबल एवं नन्दिबल जैसे नाम सन्दर्भित हैं । ये दोनों ही नाम अभिलेख की शैव-परकता को अभिव्यंजित करते हैं । इससे यह स्पष्ट है कि आलोचित कालावधि के मध्य (उत्तर कुषाण) कालीन स्तर पर कौशाम्बी में शैव धर्म जीवन्त स्थिति में था ।

आलोचित कालावधि में भागवत धर्म के संज्ञापक जितने महत्त्वपूर्ण अभिलेखिक साक्ष्य प्राप्त होते हैं, उनमें निम्नोक्त को विमर्श का विषय बनाया जा सकता है : (1) शोडास को सन्दर्भित करने वाला मथुरा के मोरा गाँव से उपलब्ध अभिलेख[61] - प्रस्तुत अभिलेख में तोषा का उल्लेख मिलता है, जिसने भगवत् शब्द से विशेषित वृष्णि-वंशीय पंचवीरों की प्रतिमा पाषाण-निर्मित देवालय में स्थापित किया था । अपनी पहली टिप्पणी में फोगेल ने पंचवीरों का समीकरण पंच पाण्डवों के साथ किया था ।[62] किन्तु आगे चलकर प्रस्तुत विद्वान् ने अपने मत का सुधार करते हुये इन प्रतिमाओं को यक्षों का द्योतक माना[63] । फोगेल के उपरान्त अन्य अनेक विद्वानों ने अभिलेखांकित पंक्ति को अलग-अलग ढंग से समीक्षित करने का प्रयास किया ।[64] इनमें प्राय: सर्व-सम्मत सुझाव जे०एन० बनर्जी का है, जिन्होंने प्रश्नान्तर्गत पंचवीरों का समीकरण वृष्णि-वंश परम्परा से सम्बन्धित संकर्षण, वासुदेव, साम्ब, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध से किया है । अपने सुझाव के समर्थन में बनर्जी ने वायु-पुराण को उद्धृत किया है, जिसके सम्बन्धित स्थल में उक्त पंच वीरों का दैवीकरण किया गया है ।[65]

आलोचित कालावधि में भागवत धर्म के प्रचलन को सत्यापित करने वाला दूसरा महत्त्वपूर्ण अभिलेख भी शोडास को सन्दर्भित करता है । यह

अभिलेख भी मथुरा से उपलब्ध हुआ था ।[66] अभिलेखांकित पंक्ति में निबन्धित है कि भगवान् वासुदेव के सम्मानार्थ देवकुल, तोरण एवं वेदिका का निर्मापन किया जा रहा है । इसके अतिरिक्त इसमें महाक्षत्रप व स्वामिन् शोडास के दीर्घ जीवन एवं शासन-शक्ति के वृद्धि का संकल्प किया गया है । इन दोनों अभिलेखों की ऐतिहासिक अभिव्यंजना में जो उल्लेखनीय बात दिखाई देती है वह है, आलोचित कालावधि के शक-क्षत्रपीय अथवा कुषाणकालीन स्तर पर भी भागवत धर्म के विकास में वैदेशिकों का महत्वपूर्ण योगदान । अभिलेखांकित पंक्ति में दानकर्तृ के नाम-द्योतनार्थ प्रयुक्त तोषा शब्द विदेशी माना गया है । लूडर्स[67] और बनर्जी[68] ने क्रमशः इसकी ईरानी एवं शक उत्पत्ति मानी है । उल्लेखनीय है कि आलोचित पंक्ति में उपासना के विषयार्थ वासुदेव शब्द प्रयुक्त हुआ है । इसी प्रकार का वर्णन बेसनगर के गरूड-स्तम्भ अभिलेख में प्राप्त होता है, जिसमें हिन्द-यवन शासक के राजदूत हेलियोडोरस द्वारा वासुदेव के सम्मानार्थ गरूड-ध्वज की स्थापना का प्रसंग मिलता है[69] । वासुदेव की उपासना के संकेतक साक्ष्य पाणिनि के काल (लगभग पाँचवी शताब्दी ईसा पूर्व) से ही मिलने लगते हैं । अष्टाध्यायी में पाणिनि ने वासुदेवक शब्द की व्युत्पत्ति समझाते हुये इसका अर्थ वासुदेव का उपासक माना है ।[70] चतुर्थ शताब्दी ईसा पूर्व के यूनानी यात्री मेगस्थनीज ने सौरसेनोई अर्थात् मथुरा के निवासियों को हेराक्लीज अर्थात् वासुदेव-कृष्ण का उपासक बताया है ।[71] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वासुदेव-सम्प्रदाय का उद्भव मथुरा में हुआ था, तथा लगभग द्वितीय शताब्दी ईस्वी के उत्तरार्द्ध से, अन्तर्वेदी के बाह्य प्रान्तरों में भी यह व्यापनशील बन बैठा था । इसी के

साथ-साथ यह भी उल्लेखनीय है कि भागवत-धर्म अथवा वासुदेव-सम्प्रदाय के संज्ञापक कुषाण-कालीन अभिलेखीय साक्ष्य अभी तक भविष्यत्कालीन शोधों की सांयोगिक सफलता पर निर्भर हैं। तथापि, इसमें सन्देह नहीं है कि कुषाण-शासक भागवत धर्म के प्रति काफी सहिष्णु थे। इस सन्दर्भ में डी०सी० सरकार ने हमारा ध्यान उत्तरकालीन कुषाण-नरेश के उन मुद्राओं की ओर आकर्षित किया है जिन पर यूनानी अक्षरों में ओश्न (विष्णु) शब्द अंकित है, तथा चतुर्भुजी देवी आकृति उत्कीर्ण है। सरकार ने इस दैवी आकृति को चतुर्भुज विष्णु का द्योतक माना है।[72] हुविष्क के उत्तराधिकारी वासुदेव के नाम से ही कुषाण-नरेश की भागवत धर्म-प्रवणता प्रतिध्वनित होती है।

आलोचित कालावधि के ऐसे भी अभिलेखीय साक्ष्य हैं, जो वैदिक धर्म के प्रचलनार्थ संज्ञापक माने जा सकते हैं। परिच्छेदान्तर में इन्हें प्रसंगित किया गया है। विषयानुकूलता के कारण ~~प्रस्तुत~~ परिच्छेद में भी विमर्शित किया जा सकता है। आलोचित शोध-ग्रन्थ के लिये ~~कथित~~ चयनित केन्द्रों को दृष्टि में रखते हुये ईसापुर के यूप-अभिलेख को समीक्षा का विषय बनाना उचित प्रतीत होता है। प्रस्तुत अभिलेख में ~~अभिलेख में~~ कुषाण-शासक राजातिराज देवपुत्र षाहि वाशिष्क एवं वर्ष 24 का प्रसंग प्राप्त होता है। इसके अभिलेखांकन का सम्बन्ध ब्राह्मण द्रोणल से किया गया है। द्रोणल को विशेषित करने वाला शब्द माणछन्दोग है। अभिलेखांकित पंक्ति के अनुसार माणछन्दोग ब्राह्मण द्रोणल ने द्वादशरात्र यज्ञ सम्पन्न किया था, तथा इसी अवसर पर उसने एक यूप की स्थापना की थी। छन्दोग शब्द का तात्पर्य स्पष्टतया सामवेद से है। किन्तु माण

शब्द से द्योतित होने वाली सामवेद की किसी शाखा का पता नहीं चलता है । अभिलेखांकित यूप की समीक्षा करते हुये वी0एस0 अग्रवाल इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सन्दर्भित यज्ञ के वैदिक विधानों को पूर्णतया दृष्टि में रखकर इसे सम्पन्न किया गया था । पूरे यूप की ऊंचाई 19 फीट 7 इंच है । नीचे से ऊपर 8 फीट 7 इंच तक यह वर्गाकार है । ऊपर का शेषांश अष्टकोणीय है । इसका मध्यभाग त्रिवर्तिनी रज्जु से आबद्ध दिखाया गया है । वैदिक ग्रन्थों में इसे रशना की संज्ञा प्रदान की गई है । शिरोभाग के समीप चनाकृति में एक बहिर्वेष्टन है, जिसे वैदिक ग्रन्थों में चषाल की संज्ञा प्रदान की गई है । इसे एक सुस्फीत कमल-माल्य से सुसज्जित दिखाया गया है, जिसे वैदिक ग्रन्थों में "पुष्करस्रज" की संज्ञा दी गई है ।[73]

मथुरा के विभिन्न स्थानों से उपलब्ध आलोचित कालावधि के अभिलेख नाग-पूजा के प्रचलन पर भी प्रकाश डालते हैं । इस आशय के निदर्शनार्थ निम्नोक्त अभिलेख उल्लेखनीय हैं : (1) <u>वर्ष 26 को सन्दर्भित करने वाला प्रस्तर-अभिलेख</u> प्रस्तुत अभिलेख में नागेन्द्र दधिकर्ण के मन्दिर में चन्दक बन्धुओं द्वारा दिये गये शिलापट्ट की चर्चा मिलती है ।[74] (2) <u>कारा-टीला से वर्ष 77 को सन्दर्भित करने वाला स्तम्भ-आधारशिला अभिलेख</u> : आलोचित अभिलेख में दधिकर्ण के मन्दिर में देविल नामक देवकुलिक द्वारा स्तम्भ-दान का प्रसंग मिलता है ।[75] (3) <u>शिरोविहीन नाग-प्रतिमा की पीठिका पर उट्टंकित अभिलेख</u>: प्रस्तुत अभिलेख मथुरा के समीप यमुना नदी से प्राप्त हुआ था ।[76] सम्प्रति यह मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित है । अभिलेखांकित शब्द

एक मात्र "दधिकर्ण्णार्ते" है । इससे अभिव्यंजित होता है कि अभिलेखांकित प्रतिमा दधिकर्ण्ण नामक नाग की है । (4) दो नागियों के साथ प्रदर्शित नाग-प्रतिमा की पीठिका पर उट्टंकित अभिलेख : मथुरा से लगभग 10 किलोमीटर दूर स्थित राल बछार के टीले से उपलब्ध प्रस्तुत अभिलेख सम्प्रति मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित है ।[77] नाग-प्रतिमा की पीठिका पर अभिलेख का अंकन हुआ है, जिसके अधोभाग में पंक्ति-बद्ध उपासकों की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं । अभिलेख में महाराज राजातिराज षाहि कनिष्क के वर्ष 8 का प्रसंग प्राप्त होता है । इसमें किसी मथुरा के निवासी नियवडिक नामक दानकर्त्ता की चर्चा है जिसने भूमो नामक नाग के अराधनार्थ एक जलाशय तथा उद्यान का निर्मापन किया था । वाई०आर० गुप्ते ने भूमोनाग के स्थान पर भूमिनाग अथवा स्वामिनाग पाठान्तर प्रस्तावित किया है । (5) स्थित मुद्रा में प्रदर्शित नाग-प्रतिमा के पृष्ठ पर उट्टंकित अभिलेख: प्रस्तुत अभिलेख महाराज राजातिराज हुविष्क के वर्ष 40 को सन्दर्भित करता है । यह प्रतिमा (अभिलेखांकित) मथुरा के समीप स्थित छारगाँव नामक गाँव से उपलब्ध हुआ था । इसे सेनहस्तिन एवं भोण्डक, इन दो व्यक्तियों ने भगवान् नाग के प्रसादनार्थ अपने ही तटाक में नाग-प्रतिमा की प्रतिष्ठापना की थी (प्रियत्ति भगवा नागो)[78] ।

उक्त अभिलेखीय सन्दर्भों से यह सुव्यक्त हो जाता है कि आलोचित कालावधि के मथुरा केन्द्र में नाग-उपासना व्यापनशील बन चुकी थी । तटाकों में नाग-प्रतिमा की प्रतिष्ठापना से यह संभावित होता है कि नाग

को जलाशयों का अधिष्ठातृ देवता मानते थे । सोंरव (मथुरा) से उत्खनित एक महत्वपूर्ण मन्दिर को दधिकर्ण नामक नाग का प्रतिष्ठापना-स्थान सम्भावित किया गया है ।[79] ऐसा सुझाव रखा गया है कि जमालपुर (मथुरा) क्षेत्र दधिकर्ण नाग का मन्दिर था, तथा यहीं पर हुविष्क (देवपुत्र) विहार भी था । फ्रोगेल की समीक्षा के अनुसार हुविष्क (देवपुत्र)-विहार की स्थापना के पूर्व ही नाग देवता का मन्दिर स्थापित हो चुका था ।[80] इस सन्दर्भ में बी०एन० मुखर्जी का सुझाव विचारणीय है । इनकी समीक्षा के अनुसार, यदि नाग-मन्दिर के ध्वंसोपरान्त हुविष्क (देवपुत्र)-विहार की स्थापना की गई थी, तो ऐसी स्थिति में मथुरा-क्षेत्र में नाग-उपासना तथा बौद्ध धर्म में विद्वेष की सम्भावना को स्वीकार करना पड़ेगा ।[81] मुखर्जी के इस सुझाव की अश्रद्धेयता इस तथ्य से सुपुष्ट हो जाती है कि अभिलेखीय सन्दर्भ इन दोनों धर्मों में सौमनस्य की स्थिति सुव्यक्त करते हैं । उदाहरणार्थ उक्त अनुच्छेद में चर्चित अभिलेख संख्या 4 में प्रसंगित पंक्ति है "सर्व्वसतहिदसुखये" "सर्व्वसत्वाहितसुखाय) अर्थात् सभी प्राणियों के हित एवं सुख की कामना की गई है । वस्तुत: यह वाक्य बौद्ध अभिलेखों की सुविदित पंक्ति का अनुकरण है, जिससे आलोचित दोनों धर्मों के सह-अस्तित्व एवं सौमनस्य की अभिव्यंजना सुव्यक्त होती है ।

मथुरा से उपलब्ध आलोचित कालावधि के दो ऐसे महत्वपूर्ण अभिलेख हैं, जिन्हें यक्ष-पूजा के सन्दर्भ में विवेचित किया जा सकता है । इनमें पहला अभिलेख एक प्रतिमा की पीठिका पर उट्टंकित है । अभिलेखांकित पंक्ति

देवप्रसाद ग्रहण करने वाले महाराज ग्रह यक्ष को अभिसम्बोधित करती है । देवप्रसाद शब्द को व्याख्यापित करते हुये इसे ऐसा भोज्य पदार्थ माना गया है जिसे ग्रहण करने के उपरान्त देवता ने अपने उपासकों के लिये छोड़ दिया हो ।[82] इस सन्दर्भ में बी०एन० मुखर्जी ऐसा सुझाव रखते हैं कि प्रश्नान्तर्गत यक्ष को देवता नहीं माना जाता था । यह प्रतिमा किसी उच्चस्तरीय व्यक्ति अथवा दैवीकृत व्यक्ति की ही मानी जा सकती है । इसे किसी मान्यता-प्राप्त देवता की बोधक प्रतिमा नहीं मान सकते हैं । प्रस्तुत विद्वान् ने ऐसी भी स्थापना किया है कि सामान्य व्यक्ति भी अपने शक्ति-उत्कर्ष एवं महनीयता के परिणाम में यक्ष-कोटि में अन्तर्भूत किया जा सकता था । इसी आशय का द्योतक मथुरा से उपलब्ध एक अन्य अभिलेख अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है । एक खण्डित पाषाण छत्र यष्टि पर तीन पंक्तियाँ उट्टंकित हैं, जिनमें सुपाठ्य पंक्ति है : "यखवेटिकस्य वधु" जिसकी रूपान्तरित पंक्ति यक्ष वेटक की पुत्रवधू बनती है । अर्थात् दूसरे शब्दों में प्रश्नान्तर्गत अभिलेख में सन्दर्भित यक्ष किसी मानवीय व्यक्ति को ही सम्बोधित करता है ।

इसमें सन्देह नहीं है कि आलोचित कालावधि में मथुरा का क्षेत्र मातृ-देवी की उपासना का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था । उत्खनन शोधों से मातृ-देवी की प्रतिमाओं एवं प्रतिकृतियों से अलंकृत अनेक याग-तटाक प्रकाश में आ चुके हैं । सोंख (मथुरा) के उत्खनन से यह सिद्ध हो चुका है कि मथुरा में मातृ-देवी की उपासना का प्रारम्भ लगभग 100 ईसा पूर्व से ही

प्रारम्भ हो चुका था ।[83] उक्त आशय का निदर्शक अभी तक केवल एक अभिलेख उपलब्ध हो सका है जो सम्प्रति ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित है ।[84] इसके प्राप्ति-स्थान के विषय में कोई निश्चित सूचना नहीं मिलती । किन्तु ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि सम्भवत: यह अभिलेख मथुरा से ही प्राप्त हुआ था । आलोचित अभिलेख महाराज देवपुत्र कनिष्क के वर्ष 10 को सन्दर्भित करता है । दान-क्रिया के स्थान को "उत्तरायां नवमिकायां" वाक्यांश से अभिसम्बोधित किया गया है । सम्भवत: उत्तरा नवमिका गाँव का नाम है । डी०सी० सरकार के अनुसार इसका अर्थ गाँव का उत्तरी भाग भी माना जा सकता है । मंगल-सूचक अभिलेखान्तक वाक्यांश है "प्रियतां देवी ग्रामस्य" , जिसे भ्रमवश लूँडर्स ने "प्रयतो देवी ग्रामेण" पढ़ा है ।[85] अभिलेखांकित "हर्म्य" शब्द काफी महत्त्वपूर्ण है । हर्म्य-दान ही वस्तुत: अभिलेख का उद्देश्य है । तैत्तिरीय-आरण्यक (VI. 6. 2) के एक प्रसंगानुकूल सन्दर्भ के आधार पर लूँडर्स ने हर्म्य का अर्थ लघु देवालय बताया है । लूँडर्स की यह व्याख्या काफी ग्राह्य प्रतीत होती है । अभिलेखांकित शिलापट्ट विषय-व्याख्या के लिये काफी उपादेय है । इसके शिरोभाग पर तक्षित वेदिका पर एक पुरुष एवं नारी की प्रतिकृतियाँ प्रदर्शित हुई हैं । पुरुष प्रतिकृति के शिरोभाग खण्डित शिराकृति को लूँडर्स ने नाग का शिर माना है । प्रस्तुत विद्वान् के अनुसार नारी-प्रतिकृति के शिरोभाग पर नागी की शिराकृति रही होगी, जो खण्डित हो चुकी है । लूँडर्स ने ऐसी भी स्थापना किया है कि अभिलेख में आराधित ग्राम-देवी का प्रदर्शन उक्त नारी-प्रतिकृति के माध्यम से किया गया है ।[86]

आलोचित कालावधि के कुषाण-स्तर पर राजोपासना के संज्ञापक निम्नोक्त अभिलेख वर्णित किये जा सकते हैं । एक तो वह कि जिसे कनिष्क की प्रतिमा-प्रतिकृति मानी जा सकती है, जिस पर कुषाण-कालीन ब्राह्मी में "महाराज राजातिराज देवपुत्रों कानिष्को" वाक्य उट्टंकित है । प्रस्तुत अभिलेख मथुरा के टोकरी टीला से उपलब्ध हुआ था । सम्प्रति यह मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित है ।[87] दूसरा अभिलेख भी टोकरी टीला से प्राप्त हुआ था । खण्डित अवस्था में उपलब्ध प्रस्तुत अभिलेख सम्प्रति मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित है ।[88] अभिलेखांकित वाक्य है "महाराज राजातिराज देवपुत्रस्य हुविष्कस्य पितामहस्य" । अर्थात् दूसरे शब्दों में अभिलेखांकित प्रतिमा-प्रतिकृति विमकाडफिसीज की मानी जा सकती है । इन अभिलेखांकित (तथा असन्दर्भित अनेक अभिलेख-विहीन) प्रतिमा-प्रतिकृतियों की व्याख्या विद्वानों ने अलग-अलग ढंग से किया है । अधिक श्रद्धेय होने के कारण यहाँ बी०एन०एस० यादव का सुझाव उल्लेखनीय है । अपनी वैदुष्य-पूर्ण समीक्षा में यादव ने ऐसा स्थापित किया है कि उक्त साक्ष्य इस तथ्य के संज्ञापक हैं कि कुषाण काल में देवकुल में राजप्रतिमा-प्रतिकृतियों को प्रतिष्ठापित करने की प्रथा प्रचलित थी । इसे कुषाणों ने प्रारम्भ किया था । इसे मृतशासक-उपासना के रूप में ग्रहण किया जा सकता है ।[89] इसी कालावधि से सम्बन्धित वे महत्वपूर्ण-साक्ष्य भी हैं, जो राजेतर किन्तु उच्चस्तरीय व्यक्ति के दैवीकरण एवं प्रतिमा-प्रतिकृति के माध्यम से उपास्य होने की सम्भावना को सुव्यक्त कर देते हैं । इस सन्दर्भ में मथुरा के गणेश से उपलब्ध अभिलेखांकित प्रतिमा उल्लेखनीय है ।[90] अभिलेखांकित वाक्य है "महादंडनायक

उलान" । इस अभिलेख के कुछ-एक महत्वपूर्ण तत्व परिच्छेदान्तर में विवेचित किये जा चुके हैं। दूसरा अभिलेख भी मथुरा से ही प्राप्त हुआ है । केवल "र्ण" को छोड़कर अशेष अभिलेख खण्डित हो चुका है, यद्यपि देवकुल में इसकी प्रतिष्ठापना का सन्निबोधक वाक्यांश-सुरक्षित है । सम्भवत: "र्ण" अक्षरान्त शब्द उलान की ही भाँति शक-बोधक नाम है, तथा इसे कुषाण-कालीन कोई उच्चस्तरीय व्यक्ति संज्ञापित होता है ।[91] तीसरा अभिलेख एक नारी-प्रतिमा की पीठिका पर उट्टंकित है । यह मथुरा के मोरा नामक गाँव से मिला था ।[92] इसके कुछ-एक महत्वपूर्ण तत्व परिच्छेदान्तर में विवेचित किये जा चुके हैं । अभिलेखांकित प्रसंगानुकूल वाक्य है :"तोषाये प्रतिमा" । इसे दो प्रकार से व्याख्यापित किया जा सकता है, तोषा के द्वारा प्रतिष्ठापित प्रतिमा अथवा तोषा की प्रतिमा । यदि दानकर्त्तृ तोषा थी, तो पहली व्याख्या ठीक मानी जायेगी । किन्तु दूसरा वैकल्पिक अर्थ इस दृष्टि से मान्य है क्योंकि समस्तरीय अन्य अभिलेखों में प्रतिमा शब्द के साथ प्रतिमा-संज्ञापित व्यक्ति अभिद्योतित हुआ है । इस बात की भी सम्भावना भी बाधित हो, जाती है कि तोषा किसी यक्षी की द्योतक है, क्योंकि इस नाम की यक्षी किसी भी स्रोत से ज्ञापित नहीं होती है । इस सन्दर्भ मे मोरा से प्राप्त एक शोडास-कालीन अभिलेख का उल्लेख किया जा सकता है, जो आलोचित प्रतिमांकित अभिलेख के लगभग एक शतक पूर्व का माना जा सकता है ।[93] शोडास-कालीन अभिलेख का वाक्यांश है, "तोषाया: शैलं श्रीमद्गृहमतुलं", अर्थात् ऐसा तोषा के लिये निर्मापित गृह[मन्दिर] जो पाषाणिक और

अतुलनीय है । उक्त दोनों अभिलेखों की समवेत समीक्षा से यही प्रतीत होता है कि तोषा का जो गृह (मन्दिर) शोडास के काल में बना था, उसी मन्दिर में कनिष्क के काल में तोषा की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गई थी । अर्थात् दूसरे शब्दों में, जैसा कि लूडर्स ने स्थापित किया है, जिस प्रकार विम काडफिसीज की प्रतिमा उसके मरणोपरान्त देवकुल में प्रतिष्ठापित की गई वैसे ही लगभग एक शतक बाद तोषा की प्रतिमा (उसके मरणोपरान्त प्रतिष्ठापना की विषय बनी थी ।[94] इन सभी अभिलेखीय सन्दर्भों से स्पष्ट होता है कि आलोचित कालावधि मे मृत शासक की प्रतिमा-उपासना के साथ-साथ उन व्यक्तियों की भी प्रतिमा-प्रतिष्ठापना एवं तदुपासना की प्रथा प्रचलित थी जो उच्चस्थानीय थे अथवा जो (अपने चारित्रिक उन्नयन के कारण) परिवार अथवा समाज में सम्मान के पात्र थे ।

सन्दर्भ - निर्देश

(1) कुषाण-स्टडीज (जी0आर0 शर्मा सम्पादित), पृष्ठ 46

(2) बुलेटिन आफ एंशेण्ट इण्डियन हिस्ट्री ऐण्ड आर्क्यालिजी (सागर विश्व-विद्यालय), भाग 1, पृष्ठ 8

(3) कुषाण-स्टडीज, पृष्ठ 46

(4) तत्रैव, पृष्ठ 47

(5) लूँडर्स, मथुरा इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ 154

(6) तत्रैव, पृष्ठ 154

(7) एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 19, पृष्ठांक 68, तथा अनुवर्ती पृष्ठ, अभिलेख-सं0 7

(8) लूँडर्स, मथुरा इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ 121

(9) फोगेल, कैटलाग आफ मथुरा म्युजियम, 1910, पृष्ठ 63

(10) लूँडर्स, मथुरा इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ 191-192

(11) बी0एस0 अग्रवाल, जर्नल आफ यू0पी0 हिस्टारिकल सोसाइटी, भाग 12, 1939, पृष्ठ 22

(12) तत्रैव, पृष्ठ 22

(13) तत्रैव, पृष्ठ 24

(14) एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 9, पृष्टांक 141 तथा अनुवर्ती पृष्ठ

(15) जे०एस० नेगी, सम इण्डोलाजिकल स्टडीज, पृष्ठांक 64-65

(16) लूँडर्स, मथुरा इंसक्रिप्शंस, पृष्ठांक 31-32

(17) एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 29, पृष्ठ 67, अभिलेख-सं० 5

(18) लूँडर्स, मथुरा इंसक्रिप्शंस, पृष्ठांक 137-188

(19) तत्रैव, पृष्ठांक 64-65

(20) जे०एस० नेगी, सम इण्डोलाजिकल स्टडीज, फलक 3/1

(21) तत्रैव, पृष्ठांक 70 तथा अनुवर्त्ती पृष्ठ, फलक 4

(22) लूँडर्स, मथुरा इंसक्रिप्शंस, पृष्ठांक 44-46

(23) एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 1, पृष्ठांक 1, तथा अनुवर्त्ती पृष्ठ

(24) एपिग्राफि इण्डिका, भाग 2, पृष्ठ 202, अभिलेख-सं० 14

(25) तत्रैव, पृष्ठ 207, अभिलेख-सं० 29

(26) लूँडर्स, एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 10, अभिलेख-संख्या 18,28,31, 34,39,50,74,76,102,115,118,119, इनमे दो अतिरिक्त अभिलेख जोड़े जा सकते है, मथुरा इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ 53 तथा एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 24, पृष्ठ 67;

(27) एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 2, पृष्ठ 207, अभिलेख सं० 21 तथा 32

(28) तत्रैव, भाग 2, पृष्ठ 199, अभिलेख-सं० 3

(29) तत्रैव, भाग 2, पृष्ठ 200, अभिलेख सं० 8

(30) बी०सी० भट्टाचार्य, पृष्ठांक 37-38

(31) एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 2, पृष्ठांक 313-314

(32) बर्जेस, आक्यालाजिकल रिपोर्ट आफ साउथ इण्डिया, भाग 1, पृष्ठांक 1 तथा अनुवर्त्ती पृष्ठ

(33) एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 2, पृष्ठ 314, अभिलेख-सं0-।

(34) डी0सी0 सरकार, इण्डियन एपिग्रैफिकल ग्लासरी, पृष्ठ 41, एपिग्राफिआ इण्डिका भाग 1, पृष्ठ 390, अभिलेख सं0 17•

(35) डी0सी0 सरकार, तत्रैव, पृ0 342

(36) यू0पी0शाह, स्टडीज इन जैन आर्ट (1955), पृष्ठांक 39-41

(37) जर्नल-आफ विहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग 23, पृष्ठांक 130-132

(38) लूँडर्स, मथुरा इंसक्रिप्शंस, पृष्ठांक 38-39, एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 1, पृष्ठ 382, अभिलेख सं0 2, एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 2, पृष्ठ, 202, अभिलेखसं0 13 तत्रैव, पृष्ठ 203, अभिलेख- सं0 16•

(39) एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 19, पृष्ठ 67

(40) तत्रैव, द्रष्टव्य डी0आर0 भण्डारकर वाल्यूम, पृष्ठांक 283-284•

(41) बूलर, एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 1, पृष्ठ 380, तथा पाद टिप्पणी 35•

(42) एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 2, पृष्ठांक 198, 202, 205, भाग 1, पृष्ठ 389•

(43) एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 2, पृष्ठांक 335, 337, 338 तथा 396

(44) इण्डियन एण्टिक्वेरी, भाग 33, पृष्ठ 108, अभिलेख सं0 23

(45) बूलर, दि इण्डियन सेक्ट आफ दि जैनाज, पृष्ठ 208, पादटिप्पणी 2

(46) सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, भाग 22, पृष्ठ 288, पादटिप्पणी•2

(47) डी0सी0 सरकार, इण्डियन एपिग्रैफिकल ग्लासरी, पृष्ठ 291

(48) एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 2, पृष्ठ 209, पादटिप्पणी 36

(49) एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 1, पृष्ठ पृष्ठ 383, पादटिप्पणी 4

~~डी०आर० साहनी, जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, पृष्ठ 1924,~~
~~पृष्ठ 402,~~

(50) कल्पसूत्र (याकोबी द्वारा अनूदित), पृष्ठांक 290-92

(51) फोगेल, आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, (एनुवल रिपोर्ट)

1911/12,20, 1915, पृष्ठ 125.

डी०आर० साहनी, जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाईअी 1924,

पृष्ठ 402, लूँडर्स, मथुरा इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ 138

(52) आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया (एनुवल रिपोर्ट) 1911/12,2;

1915, पृष्ठ 50, अभिलेख-सं० 25

(53) जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाईटी आफ ग्रेट ब्रिटेन ऐण्ड आयरलैण्ड,

1924, पृष्ठांक 402 तथा अनुवर्त्ती पृष्ठ.

(54) वाजसनेय संहिता 17.1; विष्णुपुराण 2.8.114, वायुपुराण 21.5,

ब्रह्माण्ड पुराण 2.10.10; मत्स्य पुराण 56.4.

(55) जर्नल आफ ओरियण्टल इंस्टीच्यूट, भाग 21, 1971, पृष्ठांक 103-106

(56) जर्नल आफ यू०पी० हिस्टारिकल सोसाइटी, भाग 16(1), पृष्ठांक65-66

(57) आर०सी० शर्मा, मथुरा म्यूजियम ऐण्ड आर्ट, पृष्ठांक 56-57.

(58) बी०एन० मुखर्जी मथुरा ऐण्ड इट्स सोसाइटी, पृष्ठ 170.

(59) जर्नल आफ यू०पी० हिस्टारिकल सोसाइटी, भाग 12, पृष्ठांक 29-31

(60) डी०सी० सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, भाग 1 (1965) पृष्ठ 122

(61) जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ ग्रेट ब्रिटेन ऐण्ड आयरलैण्ड

1911, पृष्ठांक 151-152

(62) ला स्कल्पचर दि मथुरा, 1930, पृष्ठ 16

(63) मेमायर्स आफ दि आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, अंक 5, पृष्ठांक 166-167

एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 24, पृष्ठ 195.

(64) जे०एन० बनर्जी, डेवलपमेण्ट आफ हिन्दू अकोनोग्रैफी (1956), पृष्ठांक 93-94. वायु पुराण, 97/1-2.

(65) सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, भाग 1 (1665), पृष्ठ 123

(66) लूँडर्स, एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 24, पृष्ठ 200

(67) जे०ए० बनर्जी, तत्रैव, पृष्ठ 94

(68) एच०सी० राचौधरी, अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव सेक्ट, पृष्ठांक 99 तथा अनुवर्ती पृष्ठ

(69) दि अष्टाध्यायी आफ पाणिनि (एस०सी० वसु द्वारा सम्पादित) भाग 1, 4. 3. 98.

(70) दि क्लासिकल एकाउण्ट्स आफ इण्डिया (1960), पृष्ठांक 221-222.

(71) डी०सी० सरकार, स्टडीज इन दि रेलिजस लाइफ आफ एंशेण्ट ऐण्ड मेडिवल इण्डिया, पृष्ठ 22

(72) शतपथ ब्राह्मण, 11.7. 3. 3.

(73) लूँडर्स मथुरा इंसक्रिप्शंस, पृष्ठांक 62-63

(74) लूँडर्स लिस्ट (एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 10) सं0 63

(75) लूँडर्स, मथुरा इंसक्रिप्शंस, पृष्ठांक 126-127

(76) लूँडर्स, तत्रैव, पृष्ठांक 148-149

(77) तत्रैव

§78§ एच0हर्टल,सम रेजल्ट्स आफ दि एक्सकेवशंस ऐट सौंरव, ए प्रिलिमिनरी रिपोर्ट आफ जर्मन स्कालर्स इन इण्डियतया, भाग 2, पृष्ठांक 93 तथा अनुवर्त्ती पृष्ठ

§79§ फोगेल, आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया §एनुवल रिपोर्ट§, 1908-1909,1912, पृष्ठांक 159 तथा अनुवर्त्ती पृष्ठ

§80§ बी0एन0 मुखर्जी, तत्रैव, पृष्ठ 172

§81§ आर0सी0 शर्मा, तत्रैव, पृष्ठ 57, 172-173

§82§ एच0 हर्टल, तत्रैव, पृष्ठांक 88-89

§83§ लूँडर्स, मथुरा इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ 199

§84§ तत्रैव, पृष्ठांक 208-209

§85§ तत्रैव पृष्ठ 209

§86§ आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया §एनुवल रिपोर्ट§, 1911/2,1915, पृष्ठांक 120-127.

§87§ लूँडर्स, मथुरा इंसक्रिप्शंस, पृष्ठांक 138-139

§88§ कुषाण स्टडीज, §जी0 आर0 शर्मा द्वारा सम्पादित, इलाहाबाद 1968§, पृष्ठ 90

§90§ एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 24, पृष्ठांक 206 तथा अनुवर्त्ती पृष्ठ

§91§ फोगेल, तत्रैव, पृष्ठ 110, अभिलेख सं0 25

§92§ एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 24, पृष्ठांक 200 तथा अनुवर्त्ती पृष्ठ

§93§ आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया §एनुवल रिपोर्ट§,1911-12,भाग2, फलक-सं0 58,आकृति-सं0 19

§94§ एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 24, पृष्ठांक 195-96.

लिपि-विषयक विशेषताएँ

इसमें सन्देह नहीं कि आलोचित कालावधि के जितने अभिलेख कौशाम्बी एवं मथुरा से उपलब्ध हुये है, वे ब्राह्मी की शिल्प-विधि के अध्ययनार्थ अतीव महत्वपूर्ण हैं। इनमें प्राय: शक-जाति से सम्बन्धित अभिलेख लिपिकरों एवं अभिलेख-दानकर्त्ताओं के नाम प्राप्त होते हैं। इनका अभिलेख सन्दर्भ इस सम्भावना का संज्ञापक बन बैठता है कि आलोचित कालावधि की ब्राह्मी की शिल्प-विधि में शक-लिपिकरों का महत्वपूर्ण योगदान था। कौशाम्बी के सुविदित बौद्ध विहार घोषिताराम से ऐसे महत्वपूर्ण अभिलेख प्राप्त हो चुके हैं जिनमें शक-लिपिकर अथवा शक दान-कर्त्ताओं के नाम सन्दर्भित हैं। इस कोटि के अभिलेख निम्नोक्त हैं :

﴾1﴿ <u>धर्मचक्र प्रस्तर -फलक अभिलेख</u> प्रस्तुत अभिलेख घोषिताराम विहार के अन्तर्भूत एक स्तूप से उपलब्ध हुआ था। इसी के साथ एक मृद्भाण्ड भी प्राप्त हुआ था, जिसमें भस्मावशेष सुरक्षित था। अभिलेख खण्डित है, तथा इसमें किसी उपासक शक लयक ﴾लियक?﴿ को प्रसंगित किया गया है। इस अभिलेख पर अपनी टिप्पणी प्रस्तुत करते हुये जे0एस0 नेगी, अभिलेखांकित शक लयक का समीकरण पश्चिमी क्षेत्रों से उपलब्ध अभिलेखों में प्रसंगित शक जाति से सम्बन्धित लियक के साथ स्थापित करते हैं।

﴾2﴿ <u>बौद्ध आयागपट्ट ﴾2﴿ अभिलेख</u> उक्त अभिलेख से ~~ही~~ सम्बन्धित <u>उत्खनित स्तर</u> से ही वर्तमान अभिलेख प्राप्त हुआ था। इस अभिलेख में किसी भिक्षु फगुल को प्रसंगित किया गया है, जिसने सम्बन्धित पूजा -शिला ﴾आयाग-पट्ट﴿ का दान दिया था। अभिलेखांकित फगुल

का समीकरण फर्गुल (सं०) के साथ किया जा सकता है, जो तन्नामधारी शक दानकर्त्ता का द्योतक है, तथा अहिच्छत्रा के एक महत्त्वपूर्ण अभिलेख में प्रसंगित हुआ है ।[2]

यह स्मरणीय है कि दूसरे अभिलेख में प्रयुक्त लिपि उस अभिलेख की लिपि की पूर्णतया समस्तरीय है, जो मथुरा से प्राप्त हुआ था, तथा जिसमें उत्तरी क्षत्रप नरेश शोडास का प्रसंग प्राप्त होता है।[3] दोनों अभिलेखों में समता-द्योतक विशेष अक्षर है : कीलशीर्षक "भ" : "घोष" तथा पुजाये । दोनों अभिलेखों की लिपि में इतना अधिक सन्निकर्ष है कि दोनों ही एक ही अभिलेख-शिल्पी की कृति प्रतीत होने लगते हैं, ध्यातव्य है कि कौशाम्बी एवं मथुरा से ऐसे अनेक अभिलेख उपलब्ध हुये हैं, जिन पर केवल शक -शिल्पियों के नाम उट्टंकित हुये हैं । ऐसे अभिलेखों का विवेचन परिच्छेदान्तर में किया गया है । इन सन्दर्भों के आधार पर ऐसी सम्भावना की जा सकती है कि मथुरा एवं कौशाम्बी इन केन्द्रों में जो अभिलेख लिखे गये थे तथा जिनकी तिथिप्रथम शताब्दी ईसा पूर्व अथवा प्रथम शताब्दी ईस्वी मानी जाती है उनमें लिपि-विषयक एकता स्थापित करने वाली परिस्थितियाँ विद्यमान थीं, तथा ऐसी स्थिति में क्षेत्रीय शैली के पनपने अथवा विकसित होने के लिये कम अवकाश था । इसी सन्दर्भ में उन अभिलेखों का विवेचन किया जा सकता है, जिनमें शक-लिपिकरों अथवा दानकर्त्ताओं के नाम सन्दर्भित हुये हैं, तथा जिनकी तिथि द्वितीय शताब्दी ईस्वी मानी जाती है । विवेच्य अभिलेख कौशाम्बी के उत्खनन से प्राप्त

हुये हैं। स्तरणीकरण एवं लिपि व्यहार दोनों ही दृष्टियों से इनका समय द्वितीय शताब्दी ईस्वी ठहरता है। विवेचनानुकूल अभिलेख निम्नोक्त है :

(1) खण्डित बौद्ध प्रतिमा पर अंकित खण्डित अभिलेख

सम्प्रति इस अभिलेख में ..."सकेन शक" शब्द सुरक्षित है। सम्भवत: शक शब्द का पूर्ववर्त्ती शब्द उपासकेन था। अभिलेख का मन्तव्य है किसी शक जाति से सम्बन्धित व्यक्ति के धार्मिक अनुदान का उट्टंकन करना।[4] अभिलेख में अक्षर "स" की ग्रन्थि-युक्त आकृति प्रदर्शित की गई है ꟾꟾ, जो मघ शासकों के अभिलेखों में मिलती है। स्तरीकरण-समीक्षा के अनुसार भी अभिलेखांकित प्रस्तर खण्ड मघ-कालीन स्तर से प्राप्त हुआ था। अतएव इसका समय लगभग द्वितीय शताब्दी ईस्वी माना जा सकता है।

(2) खण्डित प्रस्तर-खण्ड पर अंकित खण्डित अभिलेख

किसी हस्तियक नामक व्यक्ति के पुत्र नक को सन्दर्भित करते हुये प्रस्तुत अभिलेख शाक्यमुनि" बुद्ध की प्रतिमा की स्थापना का उल्लेख करता है।[5] अभिलेखांकित हस्तियक शब्द तत्कालीन खरोष्ठी अभिलेखों में उपलब्ध हस्तुन शब्द का समस्तरीय माना जा सकता है, तथा इसकी समता बन्धोगढ़ से उपलब्ध एक मघ अभिलेख में प्रसंगित फग्गुहस्तियक शब्द से स्थापित की जा सकती है।[6]

(3) भद्रमव के वर्ष 83 को सन्दर्भित करने वाले बोधिसत्व प्रतिमा पर अंकित (दो) अभिलेख:[7]

दोनों ही अभिलेख ज़ुवासक और उनक की दानक्रिया को प्रसंगित करते हैं। इन्हें खुणुक का पुत्र बताया गया है। ये नाम शकों के ही प्रतीत होते हैं। जे०एस० नेगी के अनुसार कम-से -कम ज़ुवासक को शक-बोधक नाम ही माना जा सकता है।

उक्त आभिलेखिक साक्ष्यों की समीक्षा से यह प्राय: सुव्यक्त हो जाता है कि गंगाकी घाटी, विशेषतया कौशाम्बी एवं मथुरा के क्षेत्रों में ब्राह्मी लिपि की जो शिल्पविधि तैयार हुई थी, उसकी पृष्ठभूमि में शक जाति का विशेष योगदान था। इस मत को मानने में कठिनाई होती है कि ऐसे परिवेश में क्षेत्रीय आकृतियाँ उभड़ सकती थीं।[8] इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम वे अभिलेख उल्लेखनीय हैं, जो कौशाम्बी से प्राप्त हुये हैं; जो कुषाणकालीन हैं, तथा जिनमें प्राय: कुषाण नरेश प्रसंगित हुये हैं। समीक्षा-परक सुविधा की दृष्टि से इन्हें निम्नोक्त दो वर्गों में रखा जा सकता है :

प्रथम वर्ग से सम्बन्धित वे अभिलेख हैं, जिनमें कनिष्क प्रथम को प्रसंगित करते हैं, अथवा कनिष्क प्रथम के राज्य-काल को सन्दर्भित करते हैं, अथवा जिनमें आलोचित नरेश अथवा उसके राज्य-काल का सन्दर्भ नहीं मिलता, किन्तु ब्राह्मी लिपि का गठन तत्कालीन ही है। अनुशीलन की सुविधा से की दृष्टि से इन्हें पूर्वकुषाणकालीन अभिलेख की संज्ञा दी जा सकती है।

द्वितीय वर्ग से सम्बन्धित वे अभिलेख हैं, जो उत्तरकालीन कुषाण नरेशों को सन्दर्भित करते हैं, अथवा उसके राज्य-काल को प्रसंगित करते हैं, अथवा उनमें प्रयुक्त ब्राह्मी लिपि तात्कालीन है, यद्यपि किसी नरेश अथवा उसके राज्य-काल का प्रसंग नहीं मिलता है। अनुशीलन की सुविधा की दृष्टि से इन्हें उत्तरकुषाण-कालीन अभिलेख की संज्ञा प्रदान की जा सकती है।

प्रथम वर्ग के अभिलेखों के सन्दर्भ में इस मत को मानने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है कि उत्तर भारत में प्रथम शताब्दी ईस्वी एक ऐसा स्तर है, जब कि ब्राह्मी लिपि के गठन का निर्मापन लेखन-विषयक द्रुतगामिता एवं उन्नमन-वैषम्य प्रवृत्ति के परिणाम में हुआ था। इसके साथ ही साथ यह मत भी अधिक अनादरणीय नहीं है कि इस दिशा में मथुरा के शक-क्षत्रपों की "पेन-स्टाइल" का भी इस प्रवृत्ति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। ऐसा भी कहा गया है कि लेखन-शीघ्रता की प्रवृत्ति के कारण ब्राह्मी की अक्षर-आकृतियाँ प्राय: वर्त्तुल बन बैठी हैं। ऐसी सम्भावना भी व्यक्त की गई है कि आलोचित कालावधि की धार्मिक एवं राजनयिक गतिविधियाँ मथुरा में केन्द्रीभूत थीं। अतएव सम्भवत: इस लेखन-विषयक क्रान्ति में मथुरा ने ही पहल किया था।

इसमें सन्देह नहीं कि उक्त सुझाव के अनेकांश विषयवस्तु के अनुकूल हैं। तथापि, कुछ-एक अनालोचित विन्दुओं पर ध्यान देना आवश्यक प्रतीत होता है। यह बात तथ्य-संगत है कि आलोचित कालावधि में

उत्तर भारत में लेखन-क्रिया काफी प्रखर एवं घनीभूत थी, किन्तु यह मानने में कठिनाई प्रतीत होती है कि इस लेखन प्रकर्षता में मथुरा के शक-क्षत्रपों की "पेन-स्टाइल" का ही योगदान था । इस सन्दर्भ में तथाकथित उत्तर क्षत्रपीय ब्राह्मी को समावेशित करने वाले प्राक् कुषाण कालीन दो अभिलेख उल्लेखनीय हैं । एक तो वह अभिलेख जो कौशाम्बी के घोषिताराम-विहार के उत्खनन से उपलब्ध हुआ था, जिसे आयागपट्ट ﴾1﴿ प्रस्तर-खण्ड अभिलेख की संज्ञा प्रदान की जाती है, जो सम्प्रति इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास-विभाग के संग्रहालय में सुरक्षित है । दूसरा वह अभिलेख है जो उत्तर क्षत्रप नरेश शोडास को प्रसंगित करता है, तथा मथुरा से उपलब्ध हुआ था । इसे सामान्यतया "मथुरा वोटिव टेबलेट इंसक्रिप्शंस आफ् दि टाइम आफ् शोडास" की संज्ञा प्रदान करते हैं । पूर्व अनुच्छेद में यह दिखाया जा चुका है कि इन दोनों अभिलेखों की ब्राह्मी की शिल्प-विधि में इतनी आसन्न अनुरूपता है कि दोनों एक ही शिल्पी की कृतियाँ प्रतीत होने लगती हैं । घोषिताराम विहार का अभिलेख किसी भिक्षु फगुल नामक दान-कर्त्ता को प्रसंगित करता है, जिसका समीकरण अहिच्छत्रा-अभिलेख के शक फगुल से करने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है । ऐसी स्थिति में मथुरा के शक-क्षत्रपों को ऐकान्तिक रूप में इन नवीन लेखन शैली का उन्नायक नहीं माना जा सकता है । इसके विपरीत ऐसी स्थापना की जा सकती है कि समान्तर एवं समस्तरीय लेखन-विषयक उद्वेलन का अनुभव उत्तर भारत के अन्य बौद्ध केन्द्रों में किया गया था । इस दिशा में सम्भवतः मथुरा एवं कौशाम्बी,

इन दोनों ही क्षेत्रों की प्रभाविता में एक रूपता थी । प्रस्तुत अध्याय में इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि कौशाम्बी के घोषिताराम से उपलब्ध अभिलेखों की विशेषता है कि इनमें अनेक शक दानकर्त्ताओं के नाम उपलब्ध होते हैं । यह परम सम्भावित है कि इन शक दानकर्त्ताओं ने अपना नाम अभिलेखांकित कराने के साथ-साथ, अभिलेखांकन में अपनी परिचित लेखन-शैली को अपनाया था । ध्यातव्य है कि आलोचित कालावधि में जो लेखन शैली कौशाम्बी एवं मथुरा के अभिलेखों में निरूपित मिलती है, उसी का सन्निदर्शन उन अभिलेखों में भी प्राप्त होता है, जो बन्धोगढ़ एवं दक्षिण भारत की गुफाओं से प्राप्त हुये हैं । अतएव यह कहना कठिन है कि वस्तुतः आलोचित कालावधि की लेखन-शैली में पहल किस केन्द्र ने लिया था । अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि यह लेखन-शैली उन शक बौद्ध भिक्षुओं की सृष्टि है, जो उत्तर भारत में गंगा के मैदान से लेकर दक्षिण भारत तक पर्यटन किया करते थे, तथा ऐसी ही स्थिति में इन सभी केन्द्रों के अभिलेखों की लिपि में एकरूपता दिखाई देती है । ऐसे परिवेश में किसी शाखा अथवा क्षेत्रीय आकृतियों के उभाड़ के लिये लवलेश अवकाश नहीं था ।

उक्त टिप्पणियों के आलोक में सर्वप्रथम वर्ग से सम्बन्धित अभिलेखों की लिपि की समीक्षा की जा रही है - अर्थात् वे अभिलेख जो कुषाण नरेश कनिष्क प्रथम अथवा उसके राज्य-काल को सन्दर्भित करते हैं, अथवा उसमें कोई ऐसा सन्दर्भण नहीं हुआ है, किन्तु लिपि तत्कालीन है । इनमें भी सबसे पहले वे अभिलेख समीक्षा के विषय बनाये जा रहे हैं, जिनकी अक्षर-

आकृतियों अथवा मात्राओं में अलंकरण लाने का प्रयास किया गया है ।

(1) कनिष्क प्रथम कालीन इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग के संग्रहालय में सुरक्षित बौद्ध प्रतिमा-अभिलेख:[10] इसमें तिथि को अंकित करने वाला अंश सुरक्षित नहीं है । अभिलेख बौद्ध प्रतिमा की पीठिका पर अंकित है । इसे घोषिताराम विहार में सुप्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुणी त्रेपिटिका बुद्धमित्रा ने दान किया था । त्रेपिटिका शब्द में "टि" अभिन्दर्शनीय है, जिसमें "ई" की मात्रा में अलंकरण लाने का प्रयास किया गया है ।

- ट

- टि

(2) कनिष्क प्रथम के वर्ष 6 को सन्दर्भित करने वाला इलाहाबाद संग्रहालय में सुरक्षित बौद्ध प्रतिमा-अभिलेख:[11]

कौशाम्बी के सर्वेक्षण से सुलभ प्रस्तुत अभिलेख उसी त्रेपिटिका भिक्षुणी बुद्धमित्रा को सन्दर्भित करता है । अलंकरण की चेष्टा "र" की आकृति तथा प्रतिष्ठापयति एवं भिखुणि में "इ" की आकृतियों में की गई है ।

- र

- ति

- भि

(3) "महाराज राजातिराज देवपुत्र कनिष्क" को सन्दर्भित करने वाला टोकरी टोला (मथुरा) से प्राप्त प्रतिमा अभिलेख:[12]

अलंकरण का सन्निदर्शन राजातिराज के "रा" अक्षर में हुआ है ।

(4) मथुरा (?) से उपलब्ध खण्डित प्रस्तर-अभिलेख:[13]

खण्डित होने के कारण आलोचित अभिलेख का उद्देश्य स्पष्ट नही हो पाता है । लूँडर्स की समीक्षा के अनुसार यह प्राक्-कुषाण-कालीन अभिलेख है, तथा शुद्ध संस्कृत में निबन्धित है । लूँडर्स का यह सुझाव सर्वांशतः सही नहीं है । उदाहरणार्थ अभिलेख में प्रयुक्त "पांचालीये" शब्द प्राकृत में है, जिसका शुद्ध संस्कृत रूपान्तर "पांचालीयस्य" बनता है । लिपि विषयक समीक्षा की दृष्टि से विचार किया जाय तो यह प्रतीत होगा कि उत्तर क्षत्रपीय ब्राह्मी एवं पूर्वकालीन कुषाण ब्राह्मी में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता है । अतएव इस बात की प्रबल सम्भावना है कि आलोचित अभिलेख का सम्बन्ध कनिष्क प्रथम के शासन-काल से है। आलोचित अभिलेख की सर्वाधिक विशेषता अक्षरों एवं मात्राओं के अलंकरण की प्रवृत्ति का सन्निदर्शन है, जो निम्नोक्त है:

---- रोपाधरा शब्द में

---- मित्रस्य शब्द में

---- पाति शब्द में

---- पतित: शब्द में

उक्त उदाहरणों की सबसे बड़ी विशेषता है कि अलंकरणात्मक आकृतियाँ उन अक्षरों के सन्निकर्ष में हैं, जो बन्धोगढ़ से उपलब्ध अभिलेखों में दिखाई देती हैं। यह सम्भावना की जा सकती है कि आलोचित कालावधि में लेखन शैली का अनुकरण न तो मथुरा ने कौशाम्बी से किया था और न कौशाम्बी ने मथुरा से किया था। वस्तुतः इस लेखन-विषयक आन्दोलन में शक भिक्षुओं का ही योगदान था, जिन्होंने लेखन-विषयक ताना-बाना दक्षिण भारत की गुफाओं से लेकर आधुनिक मध्यप्रदेश के बन्धोगढ़ की गुफाओं से होते हुये उत्तर भारत में कौशाम्बी एवं मथुरा तक बुन डाला था।

पूर्वकालीन कुषाण ब्राह्मी की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है पुरातन शैली का पुनरावर्त्तन, जो दानी की समीक्षा के अनुसार पूर्वी भारत के अभिलेखों में सन्निदर्शनीय है।[14] दानी के मत को सर्वांशतः मानने में कठिनाई प्रतीत होती है, तथा तत्कालीन ऐसे अभिलेख उदाहरणीय हैं जो पूर्वी एवं पश्चिमी दोनों ही क्षेत्रों से उपलब्ध हुये हैं, जिनमें पुरातन शैली के प्रज्ञापक अक्षर उपलब्ध हैं। इस कोटि के धोतक निम्नोक्त अभिलेख समीक्षा के विषय बनाये जा सकते हैं :

(1) कनिष्क प्रथम के वर्ष 2 को सन्दर्भित करने वाला इलाहाबाद संग्रहालय में सुरक्षित बौद्ध प्रतिमा अभिलेख:[15] आलोचित अभिलेख में पुरातन आकृतियाँ निम्नवत हैं :

+ (कनिष्कस्य शब्द में अभिनव आकृति में क्षैतिज रेखा वर्तुल हो जाती है ↑)

(प्रतिष्ठापयति शब्द में, अभिनव आकृति में बाएँ भाग को घुमावदार अथवा ग्रन्थियुक्त बनाते थे)

(भगवतो शब्द में, यह आकृति द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के अभिलेखों में उपलब्ध होती है)

(वंकमे शब्द में, "ए" की मात्रा पुरातन शैली में लगाई गई है, अभिनव आकृति में इसे तिर्यक् बनाया जाता था,)

(2) कनिष्क प्रथम (नाम सुरक्षित नहीं है) के वर्ष 8 को सन्दर्भित करने वाला पालिखेड़ा (मथुरा) से उपलब्ध बौद्ध प्रतिमा अभिलेख:[16]

पुरातन आकार निम्नोक्त अक्षरों में सन्निदर्शित हैं:

+ (सिहकस्य शब्द में)

⊥ (दानं शब्द में)

(3) गणेश्रा (मथुरा) से उपलब्ध खण्डित प्रतिमा अभिलेख:[17]

पुरातन आकार निम्नोक्त है:

(यमबहेकस्य शब्द में, अभिनव आकृति में अन्तर्वर्त्ती रेखा को पूर्ण बनाते थे)

(4) तथा (5) जमालपुर (मथुरा) से उपलब्ध प्रस्तर-खण्ड *अभिलेख[*17 अ] तथा मथुरा प्रस्तर-अभिलेख[18]

h (संवप्रकृति और राजनापित शब्दों में प्रस्तुत द्वितीय शताब्दी ईसापूर्व के अभिलेखों में प्राप्त होती है)

आलोचित कालावधि की एक अनन्य विशेषता रही है कि सम्बन्धित अभिलेखों में सामयिक एवं पुरातन आकृतियाँ कभी-कभी एक साथ सन्निदर्शित हुई हैं। इस प्रवृत्ति के प्रमापक साक्ष्य न केवल मथुरा के अभिलेखों में, अपितु कौशाम्बी के अभिलेखों में उपलब्ध होते हैं। ऐसे साक्ष्य इस तथ्य के संकेतक है कि उत्तरी ब्राह्मी में लेखन-शैली की अनुरूपता की प्रवृत्ति प्रबल थी। इससे यह भी सुव्यक्त हो जाता है कि क्षेत्रीय शाखाओं की सम्भावना के आधार पर उत्तर भारतीय अभिलेखों का वर्गीकरण किया जाना सम्भव नहीं है। यह भी ध्यातव्य है कि पुरातन एवं सामयिक अक्षर-आकृतियों के समावेश की प्रवृत्ति वस्तुत: प्राक् कुषाण काल से चली आ रही थी। एतदर्थ प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के दो अभिलेख विवेचनीय हैं। ये हैं : शोडासकालीन मथुरा का प्रस्तर अभिलेख, तथा कौशाम्बी के घोषितराम विहार से उपलब्ध आयागपट्ट (१) अभिलेख। इन दोनों की समीक्षा विषयान्तर के सन्दर्भ में की जा चुकी है। शोडास कालीन अभिलेख में पुरातन आकार निम्नवत है :

F (साविकाये शब्द में)

X (वर्धमानस शब्द में)

ᑕ◻ (भयाये शब्द में)

प्रस्तुत अभिलेख में प्रयुक्त अभिनव आकृतियाँ निम्नवत हैं :

(सहस शब्द में)

(प्रतिष्ठापिता शब्द में)

(पुजाये शब्द में)

(घोषेन शब्द में)

घोषितराराम विहार के आयागपट्ट (१) अभिलेख के पुरातन आकार, मात्राएँ निम्नोक्त हैं :

(अंतेवासिस शब्द में)

(अंतेवासिस शब्द में)

(भिखुस शब्द में)

इस अभिलेख में प्रयुक्त अभिनव आकृतियाँ (मात्राएँ) निम्नोक्त हैं:

(बुधावासे शब्द में)

(बुधावासे शब्द में)

(बुधावासे शब्द में)

वस्तुस्थिति के मूल्यांकन के लिये आलोचित कालावधि से सम्बन्धित निम्नलिखित अभिलेखों को विवेचन का विषय बनाया जा सकता है ।

(1) कनिष्क प्रथम को सन्दर्भित करने वाला इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग के संग्रहालय में सुरक्षित (दो) अभिलेख :[19] विषयान्तर के सन्दर्भ में इन दोनों में एक अभिलेख की समीक्षा की जा चुकी है । दोनों ही अभिलेख कौशाम्बी के घोषिताराम

विहार के उत्खनन में उपलब्ध हुये थे । इनमें भिक्षुणी त्रैपिटिका बुद्धमित्रा प्रसंगित है, जिसने उक्त बौद्ध विहार में बुद्ध की प्रतिमा का दान दिया था । दोनों में संस्कृत प्रभावित प्राकृत का प्रयोग हुआ है, यद्यपि एक भाषा में संस्कृत का पुट अधिक दिखाई देता है । ये दोनों अभिलेख पुरातन एवं सामयिक आकृतियों के समावेश के सटीक उदाहरण हैं ।

विषय से सम्बन्धित व्याख्या निम्नोक्त है:

पुरातन आकार ┼ (पहले अभिलेख के कनिष्क शब्द में)

सामयिक आकार ┼ (दूसरे अभिलेख के त्रैपिटिका शब्द में)

पुरातन आकार ⊔⊔ (पहले अभिलेख के बुद्धमित्राये शब्द में)

सामयिक आकार ⊔⊔ (दूसरे अभिलेख के बुद्धमित्राये शब्द में)

(2) <u>कनिष्क को सन्दर्भित करने वाली इलाहबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग के संग्रहालय की अभिलेखांकित मुहर:</u>[20] प्राप्त सूचना के अनुसार आलोचित अभिलेखांकित मुहर सम्प्रति आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ़ इण्डिया के पास सुरक्षित है । इसकी लिपि के सन्दर्भ में जे०एस०नेगी का कहना है कि इसमें "य" का प्रयोग चार बार हुआ है, तथा हर बार इसकी आकृति ग्रन्थियुक्त है ⊔⊔ । इसके अतिरिक्त संयुक्ताक्षर के रूप में प्रयुक्त होते समय "स" के बनाने की शैली मघों के अभिलेखों की लिपि से मिलती-जुलती है ꓤ । ऐसी स्थिति में सम्भावना इस बात की लगती है कि अभिलेख में प्रयुक्त कनिष्क शब्द का तात्पर्य अवान्तरकालीन कनिष्क से माना जा सकता है, न कि कनिष्क प्रथम से । नेगी महोदय ने इस बात पर भी

बल दिया है कि कनिष्क को सन्दर्भित करने वाले बुद्धमित्रा के दूसरे अभिलेख में "य" के लिए ग्रन्थियुक्त आकृति का प्रयोग हुआ है । अतएव ऐसी स्थिति में आलोचित अभिलेख में सन्दर्भित कनिष्क का तात्पर्य कनिष्क प्रथम से मानने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है । स्तरीकरण की समीक्षा से भी अभीष्ठ शासक कनिष्क प्रथम ही प्रतीत होता है । नेगी महोदय की इस पाण्डित्य-पूर्ण समीक्षा के समर्थन में यह उल्लेखनीय है कि उक्त अनुच्छेदों में ऐसे अनेक अभिलेख समीक्षित किये गये हैं, जिनमें पुरातन एवं सामयिक आकृतियाँ साथ-साथ व्यवहृत हुई हैं । अतएव आलोचित अभिलेख को कनिष्क प्रथम से सम्बन्धित करने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है ।

वस्तुस्थिति तो यह है कि इस अभिलेखांकित मुहर में तीन कोटि की आकृतियों को प्रयोग में लाया गया है । एक तो आर्ष आकृति, दूसरी सामयिक आकृति, तथा तीसरी वह आकृति जिसमें अनुवर्ती स्तर का पुरा-प्रदर्शन मान सकते हैं ।

आर्ष आकृति: ⊔ जो द्वितीय शताब्दी ईसापूर्व के अभिलेखों में प्रयुक्त हुई है, जिसके प्रमापक साक्ष्य भरहुत, मथुरा, पभोसा आदि स्थानों के अभिलेखों में उपलब्ध हैं । आर्ष आकृति की कोटि में "व" △ को भी रखा जा सकता है ।

सामयिक आकृति: ⊔, जो कभी कदा पूर्व कालीन कुषाण अभिलेखों में मिलती है ।

अनुवर्ती स्तर का पुरा-प्रदर्शन: संयुक्ताक्षर "स्य" में सन्निदर्शित है:

मथुरा से उपलब्ध पूर्वकुषाण काल से सम्बन्धित निम्नोक्त अभिलेखों को विवेचन का विषय बनाया जा सकता है :

{1} वर्ष 5 को सन्दर्भित करने वाला कंकाली टीला {मथुरा} से प्राप्त जैन प्रतिमा-अभिलेख:[21]

अभिलेख में किसी ऐसे वाचक {आचार्य} का उल्लेख हुआ है, जिसका सम्बन्ध कोट्टियगण से था, तथा जिसने अभिलेखांकित प्रतिमा का दान किया था। पुरातन एवं सामयिक आकृति अक्षर "क" में सन्निदर्शित है :

पुरातन आकार + {कोट्टिय शब्द में}

सामयिक आकार + {वाचक शब्द में}

{कनिष्क के वर्ष 23 को सन्दर्भित करने वाला सौंख {मथुरा} से उपलब्ध बौद्ध प्रतिमा अभिलेख[22]

अभिलेख में किसी पुष्पदन्त द्वारा बौद्ध प्रतिमा की प्रतिष्ठापना का प्रसंग प्राप्त होता है। पुरातन एवं सामयिक अक्षर-आकृतियों के निदर्शन निम्नोक्त हैं:

+ {स्वके शब्द में, अक्षर-आकृति सामयिक है, किन्तु "आ" की मात्रा पुरातन शैली के अनुसार लगाई गई है।}

(महाराजस्य शब्द में, "य" का संयोजन पुरातन शैली के अनुसार किया गया है।)

(विहारस्य शब्द में, "य" का संयोजन अभिनव शैली के अनुसार किया गया है।)

(प्रतिष्ठापयति शब्द में, "य" की आकृति पुरातन शैली के अनुसार बनाई गई है।)

(3) कनिष्क के वर्ष 10 को सन्दर्भित करने वाला ब्रिटिश म्यूज़ियम प्रस्तर-खण्ड अभिलेख:[23] इसमें नवमिका नामक गाँव में हर्म्य (मन्दिर) के दान का अंकन किया गया है। पुरातन एवं सामयिक आकृतियों का सन्निदर्शन संयुक्ताक्षर (कनिष्क शब्द के) संयुक्ताक्षर "ष्क" में प्राप्त होता है।

("ष" की पुरातन आकृति है; किन्तु "क" सामयिक आकृति में सन्निदर्शित है।)

(4) कनिष्क के वर्ष 8 को सन्दर्भित करने वाला राल भाधर (मथुरा) से प्राप्त नाग प्रतिमा अभिलेख:[24] इसमें मथुरा के किसी निधकि द्वारा नाग भूम (की प्रतिमा) के दान का उल्लेख मिलता है। पुरातन एवं सामयिक आकृतियाँ पुक्षरिणी के "क्ष" एवं नागस्य के "स्य" में सन्निदर्शित है:

(5) कनिष्क के वर्ष 18 को सन्दर्भित करने वाला कंकाली टीला (मथुरा) से उपलब्ध जैन प्रतिमा अभिलेख :[25]

अभिलेख में किसी मिताश्री का प्रसंग है, जिसने भगवत अरिष्टनेमि की प्रतिमा का दान दिया था। पुरातन एवं सामयिक आकृतियों का सन्निदर्शन क्रमशः सुघाय एवं जयस्य शब्दों में प्रयुक्त "य" की आकृति प्राप्त होता है।

(6) कनिष्क प्रथम के वर्ष 4 को सन्दर्भित करने वाला कंकाली टीला (मथुरा) से प्राप्त बौद्ध प्रतिमा-अभिलेख:[26] अभिलेख में वारणगण से सम्बन्धित किसी आचार्य द्वारा दिये गये दान का उल्लेख हुआ है। पुरातन एवं सामयिक आकृतियों का सन्निदर्शन क्रमशः वजगगरित एवं वारणगमतो शब्दों में प्रयुक्त अक्षर "ग" की आकृति में हुआ है।

एतदुपरान्त उन अभिलेखों को विवेचन का विषय बनाया जायेगा जिनमें उत्तर कालीन कुषाण ब्राह्मी का प्रयोग हुआ है, तथा जिनका सम्बन्ध उत्तरकालीन कुषाण नरेशों से है अथवा जिनमें इन नरेशों के राज्य-काल को प्रसंगित किया गया है। यह ध्यातव्य है कि इनका लिपि-विषयक सन्निकर्ष मव-नरेशों के अभिलेखों में प्रयुक्त लिपि से है। प्रस्तुत समीक्षा में उन्हीं अभिलेखों को चयनित किया जा रहा है, जिनमें विकसित आकृतियाँ प्रयुक्त हुई हैं।

(1) वर्ष 93 को सन्दर्भित करने वाला कंकाली टीला (मथुरा) से उपलब्ध जैन प्रतिमा अभिलेख:[27] बी०एन०पुरी की समीक्षा के अनुसार अभिलेख में अभीष्ट कुषाण नरेश वासुदेव माना जा सकता है ।[28] अभिलेख में किसी हिरण्यकार की दुहिता की दान-क्रिया प्रसंगित है । विकसित आकृतियों का सन्निदर्शन नन्दि शब्द के संयुक्ताक्षर "न्द" एवं महाविहारिस्य शब्द के संयुक्ताक्षर "स्य" में उपलब्ध होता है ।

(2) वासुदेव के वर्ष 98 को सन्दर्भित करने वाला कंकाली टीला (मथुरा) से उपलब्ध जैन प्रतिमा-अभिलेख:[29] अभिलेख में कोट्टियगण के सदस्यों द्वारा प्रतिमा दान का प्रसंग मिलता है । विकसित आकृतियाँ क्षुणे शब्द के संयुक्ताक्षर "क्ष" और कोट्टिय शब्द के "य" में सन्निदर्शित हैं:

(3) कंकाली टीला (मथुरा) से उपलब्ध तिथि-रहित जैन प्रतिमा अभिलेख:[30]

अभिलेख में किसी जैन मतावलंबी महिला द्वारा जैन प्रतिमा के दान का उल्लेख मिलता है । विकसित आकृतियाँ शाखातो शब्द के "श" एवं नवहस्तिस्य शब्द के "न" में निदर्शित हुई है ।

(4) कनिष्क को सन्दर्भित करने वाला दलपत की खिड़की (मथुरा) से उपलब्ध बौद्ध प्रतिमा-अभिलेख:[31]

अभिलेख में किसी प्रावारिक हस्थि की पत्नी द्वारा आलोचित प्रतिमा के दान का प्रसंग प्राप्त होता है। आलोचित अभिलेख किसी तिथि का भी अंकन करता है। वासुदेव विष्णु मिराशी ने इसे 54 पढ़ा है। वर्ष 41 को सन्दर्भित करने वाले आरा के अभिलेख में प्रसंगित कनिष्क एवं वर्ष 54 को सन्दर्भित करने वाले आलोचित अभिलेख के कनिष्क को प्रस्तुत विद्वान् ने एक माना है। अपनी वैदुष्य-पूर्ण टिप्पणी में इन्होंने ऐसा भी व्यक्त किया है कि कुषाण साम्राज्य में कम-से कम वर्ष 41 से वर्ष 54 तक कनिष्क द्वितीय एवं हुविष्क का सह-शासन अस्तित्व में था।[32] डी० आर साहनी,[33] डी०आर० भण्डारकर,[34] लूडर्स[35] तथा टी०पी० वर्मा[36] ने इसे 14 पढ़ा है। डी० सी० सरकार[37] ने कभी इसे 94 पढ़ा था। किन्तु बाद में इन्होंने अपने मत का संशोधन[38] कर 14 पढ़ा। बी० एन० मुखर्जी[39] के अनुसार अंक 4 तो सर्वथा स्पष्ट है, किन्तु अग्रवर्त्ती अंक 90 हो सकता है, क्योंकि मथुरा से उपलब्ध कनिष्क के अभिलेखों में 50 के लिये स्पष्ट आकृति भिन्न है C। प्रस्तुत विद्वान् के मतानुसार अभिलेख में अभीष्ट कुषाण-नरेश कनिष्क तृतीय माना जा सकता है। उल्लेखनीय है कि अभिलेखांकित अक्षर-आकार इतने विकसित हैं, कि इनके सन्दर्भ में मुखर्जी के मत की आदरणीयता सुव्यक्त बन बैठती है। इस सन्दर्भ में कुछ-एक विशिष्ट अक्षर-आकृतियाँ निम्नवत निदर्शित हैं :

उक्त निदर्शनों के सम्बन्ध में वक्ष्यमाण टिप्पणी आवश्यक प्रतीत होती है। अक्षर "ग" का दक्षिण चरण बढ़ा हुआ है, तथा बाएँ भाग पर सेरिफ की आकृति जुड़ी हुई है । अक्षर "म" काफी विकसित है, तथा इसे "ओपन माउथ टेल्डवेराइटी आफ "म" की संज्ञा दी जाती है । अक्षर "य" ग्रन्थियुक्त है । अक्षर "श"का दाहिना हिस्सा बढ़ाया गया है, तथा बाएँ भाग के सिरे पर सेरिफ लगा हुआ है । मूर्धन्य "ष" की अन्तवर्ती रेखा पूर्ण है । अक्षर "ह" का वर्त्तुल आकार है । संयुक्ताक्षर "स्य" में "य" की अर्द्धाकृति लगाई गई है । अक्षर "त" में "इ" की मात्रा अलंकृत शैली में लगाई गई है । उल्लेखनीय है कि ये सभी विशेषताएँ कौशाम्बी से उपलब्ध मघ नरेशों के अभिलेखों में भी मिलती है, जिनकी समयावधि द्वितीय एवं तृतीय शताब्दी ईस्वी निश्चित की जा सकती है ।

वस्तुस्थिति के अंकनार्थ आलोचित विषय के प्रसंग में उन मघ नरेशों के अभिलेखों को समीक्षा का विषय बनाया जा रहा है, जो कौशाम्बी के सर्वेक्षण अथवा उत्खनन शोधों से प्रकाश में लाये गये हैं । ऐसे अभिलेख निम्नोक्त हैं :

(1) भद्रमघ के वर्ष 83 को सन्दर्भित करने वाला बौद्ध प्रतिमा-अभिलेख:[40]

प्रस्तुत अभिलेख खुणुक के पुत्र उझक द्वारा वोषिताराम विहार में बोधिसत्त्व की प्रतिमा -प्रतिष्ठापना को प्रसंगित करता है । आलोचित अभिलेख में प्रयुक्त विकसित आकृतियाँ निम्नोक्त हैं :

क---
ग ---
श ---
ब ---
स ---
ह ---
स्य ---

(2) भद्रमघ के वर्ष 88 को सन्दर्भित करने वाला प्रस्तर -अभिलेख:[41]

आलोचित अभिलेख की दो विकसित आकृतियाँ उल्लेखनीय हैं एक तो संयुक्ताक्षर "ङ·" और दूसरे अक्षर "म" । स्मरणीय है कि "म" की आकृति इतनी अलंकृत शैली में बनाई गई है कि साहनी ने भ्रम वश "मे"

पढ़कर सम्बन्धित मघ राजवंश को मेघ राजवंश समझ लिया था । आगे चलकर अन्य मघ अभिलेखों के प्रकाशित होने पर साहनी के इस मत को परिवर्दित किया गया ।

ई॰ ——

न ——

(3) शिवमघ को सन्दर्भित करने वाला कौशाम्बी का प्रस्तर अभिलेख:[42]

प्रस्तुत अभिलेख से सम्बन्धित पक्षों पर अनुच्छेदान्तर में विचार किया जा चुका है । कुछ -एक महत्वपूर्ण एवं शिवमघ को नामांकित करने वाली मुद्राओं की समीक्षा के आधार पर अजयमित्र शास्त्री ने ऐसा सुझाव रखा है कि मघ वंश में शिवमघ नामधारी दो शासकों के अस्तित्व की सम्भावना की जा सकती है । समीक्षित मुद्राओं को शास्त्री ने दो वर्गों में रखते हुये "श"के संयुक्त ह्रस्व "इ" की मात्रा-शैली की ओर ध्यान आकर्षित किया है । पहली कोटि की मुद्राओं के "श" में ह्रस्व "इ" मात्रा पुरातन शैली अर्थात् कोणाकार लगी हुई है । इससे सम्बन्धित शिवमघ को शिवमघ प्रथम माना जा सकता है । दूसरी कोटि के "श" ह्रस्व की मात्रा विकसित शैली अर्थात् वर्तुलाकार लगी हुई है । इससे सम्बन्धित शिवमघ को शिव मघ द्वितीय माना गया है ।

आलोचित अभिलेख में भी उक्त आशय का संकेतक साक्ष्य मिल जाता है । संयुक्ताक्षर "श्री" एवं शिवमघ शब्द के अक्षर "शि" में ~~दीर्घ "इ"~~

ह्रस्व "इ" की मात्रा वर्तुल शैली में ही लगी हुई है ।

श्री ---

शिवमघ ---

अतएव ऐसी स्थिति में आलोचित अभिलेख में अभीष्ठ मघ नरेश को शिवमघं द्वितीय मानने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है ।

(4) मघ नरेश भीमवर्मन् को सन्दर्भित करने वाले कौशाम्बी के अभिलेख:

भीमवर्मन् को नामांकित करने वाले कौशाम्बी से अभी तक तीन महत्त्वपूर्ण अभिलेख मिल चुके हैं । इनमें क्रमश: वर्ष 122;[43] 130[44] एवं 139[45] प्रसंगित हुये हैं । ये तीनों ही सर्वेक्षण शोध से मिले हैं । इनमें पहला अभिलेख इसलिये अधिक महत्वपूर्ण है कि इसमें कौशाम्बी का साहित्यिक साक्ष्यों से सम्मित बौद्ध विहार पावरियाराम प्रसंगित हुआ है । लिपि-विषयक समीक्षा के आधार पर फ्लीट महोदय ने वर्ष 139 को सन्दर्भित करने वाले अभिलेख के भीमवर्मन् को गुप्तकालीन शासक माना है । इनकी समीक्षा के अनुसार अभिलेखांकित संवत गुप्त संवत् का द्योतक है, तथा भीमवर्मन् स्कन्दगुप्त का सामन्त था । निम्नोक्त तथ्यों के आलोक में इस मत की भ्रामकता स्पष्ट हो जाती है :

(1) सबसे पहले भीमवर्मन् को प्रसंगित करने वाले अभिलेखों की भाषा पर ध्यान देना उचित है । खण्डित होने के कारण फ्लीट द्वारा समीक्षित अभिलेख की भाषा के विषय में कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता है । किन्तु

वर्ष 122 को प्रसंगित करने वाले अभिलेख के अक्षर इतने अधिक सुरक्षित हैं कि इनके आधार पर भाषा-विषयक मूल्यांकन किया जा सकता है। इस अभिलेख में प्रयुक्त प्राकृत शब्द है : एतये, बुधस्य, भगवधंम; तथा संस्कृत शब्द है: महाराजस्य भीमवर्म्मणः, भगवतो प्रजादेवस्य, तथा प्रियतां। अर्थात् दूसरे शब्दों में प्रस्तुत अभिलेख की भाषा संस्कृतनिष्ठ प्राकृत है। यह विशेषता उत्तरकालीन कुषाण ब्राह्मी के अभिलेखों में पाई जाती है। इसके विपरीत गुप्तकालीन अभिलेखों की विशेषता रही है कि ये अभिलेख शुद्ध संस्कृत भाषा में निबन्धित हुये हैं। अतएव ऐसी स्थिति में अभिलेखांकित मघ नरेश को गुप्तकालीन शासक अथवा शासकाधीन सामन्त नहीं माना जा सकता है।

(2) यह प्रश्न कई बार उठाया गया है कि मघ अभिलेख में प्रयुक्त संवत् की पहचान किस विशेष संवत् से किया जाय। एक मत के अनुसार इसका तादात्म्य शक संवत् से करना उचित है, जिसका प्रवर्त्तन 78 ईस्वी में कुषाण नरेश कनिष्क प्रथम ने किया था, तथा जिसे शक-संवत् की संज्ञा इसलिये दी जाती है क्योंकि सुदीर्घकाल तक इसका प्रयोग पश्चिमी शक क्षत्रप शासकों ने किया था। दूसरे और तीसरे मत के अनुसार इसका तादात्म्य क्रमशः कलचुरि-चेदि एवं गुप्त संवत् के साथ किया गया है। इन दोनों मतों की भ्रामकता इसलिये सिद्ध हो जाती है क्योंकि ऐसी स्थिति में अभिलेखांकित मघ-नरेश गुप्त शासकों के समकालीन बन बैठते हैं। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति पर विचार किया जाय तो ऐसा प्रतीत होगा कि आर्यावर्त्त

विजय योजना में समुद्रगुप्त ने असुर-विजयी की नीति अपनाई थी तथा आर्यावर्त्त के सभी शासकों को उसने उन्मूलित कर दिया था ।

इन अभिलेखों में वस्तुत: विकसित आकृतियों को प्रयोग में लाया गया है, जिनके कुछ-एक उदाहरण निम्नोक्त हैं :

ग ---

श ---

श्री ---

म ---

ह ---

य ---

स्य ---

फ्लीट महोदय ने भ्रमवश इन अक्षरों को गुप्तकालीन मान लिया था । वस्तुत: इन अक्षरों को गुप्तलिपि का मात्र पुरा-प्रदर्शन मानना अधिक संगत प्रतीत होता है ।

वस्तुत: यदि समग्रता की दृष्टि से विचार किया जाय तो ऐसा प्रतीत होगा कि आलोचित कालावधि में ब्राह्मी के विकास के संकेतक तीन स्तर हैं :-

(1) प्रथम स्तर के प्रमापक अक्षर आकार उस लिपि में मिलते हैं, जिसे जर्मन विद्वान् जार्ज बूलर ने उत्तर क्षत्रपीय वर्णमाला की संज्ञा प्रदान की है। इसमें मौर्यकालीन आकृतियों के पुनः प्रदर्शन एवं कुषाण कालीन आकृतियों के पुरा-प्रदर्शन की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

(2) द्वितीय स्तर के संकेतक अक्षर-आकार उस लिपि में मिलते हैं, जिसे पूर्वकालीन कुषाण ब्राह्मी की संज्ञा दी जा सकती है, जिसके अक्षर आकार उत्तर क्षत्रपीय ब्राह्मी के काफी सन्निकर्ष में हैं।

(3) तृतीय स्तर के अक्षर आकार उस लिपि में मिलते हैं, जिसे उत्तरकालीन कुषाण ब्राह्मी की संज्ञा दी जा सकती है, जिसमें विकसित अक्षर-आकृतियाँ प्रयुक्त हुई हैं, जिन्हें गुप्तकालीन ब्राह्मी का पुरा-प्रदर्शन माना जा सकता है।

सन्दर्भ-निर्देश

1- कुषाण स्टडीज़, पृष्ठ 46

2- बुलेटिन आफ़ एंशान्ट इण्डियन हिस्ट्री ऐण्ड आर्क्यालाजी (यूनिवर्सिटी आफ़ सागर), भाग 1, पृष्ठ 8

3- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 2, पृष्ठ 199 तथा फलक

4- कुषाण स्टडीज, पृष्ठ 46

5- तत्रैव, पृष्ठ 47

6- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 33, पृष्ठांक 168 तथा अनुवर्ती पृष्ठ (द्रष्टव्य इंसक्रिप्शंस आफ़ महाराज कौत्सीपुत्र पोठिसिरि, वर्ष 86

7- कुषाण स्टडीज, पृष्ठ 47

8- अहमद हसन दानी, इण्डियन पैलियोग्रैफी, पृष्ठ 77

9- टी०पी० वर्मा, दि पैलियोग्रैफी आफ़ ब्राह्मी स्क्रिप्ट इन नार्दर्न इण्डिया (फ्राम सर्का 326 बी०सी० टु सर्का 200 ए०डी०) पृष्ठांक 116-117

10- कुषाण स्टडीज, पृष्ठ 61, फलक 6।

11- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 24, पृष्ठांक 211-212 तथा फलक।

12- मथुरा इंसक्रिप्शंस पृष्ठांक 133-134 तथा पृष्ठ 296 का फलक

13- तत्रैव, पृष्ठांक 194-195, तथा पृष्ठ 315 का फलक

14- अहमद हसन दानी, तत्रैव पृष्ठ 89

15- मथुरा इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ 167, तथा पृष्ठ 307 का फलक

16- तत्रैव,

17- तत्रैव, पृष्ठ 158, तथा पृष्ठ 303 का फलक

17 अ- तत्रैव, पृष्ठांक 100-101, तथा पृष्ठ 288 का फलक

18- तत्रैव, पृष्ठ 111, तथा पृष्ठ 291 का फलक

19- जे0एस0 नेगी, सम इन्डोलाजिकल स्टडीज, पृष्ठांक 60-61, तथा फलक संख्या 2

20- कुषाण स्टडीज़, फलक संख्या 10 अ

21- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 2, पृष्ठ 202, संख्या 12 तथा फलक

22- मथुरा इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ 172

23- प्रस्तुत अभिलेख एक लक्षण-युक्त प्रस्तर खण्ड पर अंकित है । सम्प्रति यह ब्रिटिश संग्रहालय लन्दन में सुरक्षित है । इसके प्राप्ति-स्थान के विषय में कोई सूचना नहीं मिलती । लूडर्स की समीक्षा के अनुसार अभिलेख में प्रयुक्त लिपि एवं भाषा की दृष्टि से सम्भावित प्राप्ति-स्थान मथुरा ही प्रतीत होता है ।

24- मथुरा इंसक्रिप्शंस, पृष्ठांक 148-149, तथा पृष्ठ 298 का फलक

25- एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 2, पृष्ठ 202,
संख्या 12 तथा फलक

26- तत्रैव, पृष्ठ 201, संख्या 11 तथा फलक

27- तत्रैव, पृष्ठ 208, संख्या 24 तथा फलक

28- बी०एन०पुरी, कुषाण बिब्लोग्रैफी, पृष्ठ 144

29- एपिग्राफिआ इण्डिका भाग 2 पृष्ठ 205,
संख्या 14 तथा फलक

30- तत्रैव, पृष्ठ 208, संख्या 34 तथा फलक

31- मथुरा इंसक्रिप्शंस, पृष्ठांक 116-119

32- एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 26, पृष्ठ 294

33- एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग 19, पृष्ठ 97

34- तत्रैव, भाग 11, पृष्ठ 2

35- मथुरा इंसक्रिप्शंस, पृष्ठ 116

36- टी०पी० वर्मा, तत्रैव पृष्ठांक 114-115

37- प्रोसीडिंग्स ऐण्ड ट्रैन्जैक्शंस आफ ऑल इण्डिआ ओरियण्टल कानफ्रेंस,
सत्र 12, 1943-1944, भाग 2, पृष्ठ 542

38- डी0सी0 सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस , भाग 1 (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ 518

39- बी0एन0मुखर्जी, स्टडीज इन कुषाण जीनिआलजी ऐण्ड क्रोनोलाजी, पृष्ठांक 71-72

40- जे0एस0 नेगी, सम इण्डोलाजिकल स्टडीज, फलक संख्या 3/1

41- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 18, पृष्ठांक 158-60

42- तत्रैव, पृष्ठ 159

43- जे0एस0 नेगी, तत्रैव, पृष्ठांक 70 तथा अनुवर्ती पृष्ठ, फलक संख्या 4

44- इण्डियन कलचर, भाग 3, पृष्ठांक 177, तथा अनुवर्त्ती पृष्ठ

45- कार्पस इंसक्रिप्शनन इण्डिकेरम, भाग 3, पृष्ठांक 266-277

सन्दर्भ-ग्रन्थसूची

मूलभूत ग्रन्थ

आधुनिक शोध-ग्रन्थ

प्राच्य विद्या की महत्त्वपूर्ण पत्रिकाएँ

मूलभूत ग्रन्थ

1. अग्नि पुराण-- पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा वंगवासी प्रेस कलकत्ता द्वारा प्रकाशित ।

2. अथर्ववेद-- आर० रॉथ तथा डब्ल्यू० डी० ह्विटनी द्वारा संपादित, बर्लिन 1924 ।

3. अभिज्ञानशकुन्तलम्-- सतीशचन्द्र वसु द्वारा संपादित, बनारस 1897 ।

4. अमरकोश-- वी० झलकीकर द्वारा संपादित, बंबई, 1907 ।

5. अहिर्बुध्न्य संहिता--एम०डी० रामानुजाचार्य द्वारा संपादित, अड्यार, मद्रास, 1916 ।

6. आपस्तंब धर्मसूत्र-- हलस्यनाथ शास्त्री द्वारा संपादित एवं प्रकाशित, कुंभकोणम्, 1895 ।

7. आश्वलायन गृह्यसूत्र--म०म० गणपति शास्त्री द्वारा संपादित, त्रिवेन्द्रम्, 1923

8. उत्तरगीता, गौडपाद-भाष्य-सहित-- श्रीवानी विलास प्रेस द्वारा संपादित श्रीरंगम वि०सं० 1926 ।

9. उत्तररामचरित-- पी०वी० काणे द्वारा संपादित, बंबई, 1929 ।

10. ऐतरेय ब्राह्मण-- हरिनारायण आप्टे द्वारा संपादित एवं प्रकाशित ।

11. ऋतुसंहार-- बंबई, 1922 ।

12. कथासरित्सागर-- दुर्गाप्रसाद द्वारा संपादित, बंबई, 1920 ।

13. कात्यायन श्रौतसूत्र-- लन्दन, 1885 ।

14. कादम्बरी-- मथुरानाथ शास्त्री द्वारा संपादित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1948 ।

15. कामसूत्र-- दुर्गाप्रसाद द्वारा संपादित, बंबई ।

16. कालिका पुराण-- बंबई, शकाब्द, 1829 ।

17. काव्यप्रकाश-- हरदत्त शर्मा द्वारा संपादित, पूना, 1935 ।

18. काव्यमीमांसा-- सी०डी० दलाल द्वारा संपादित, बड़ौदा, 1917 ।

19. कुमारसम्भव-- भारद्वाज गंगाधर शास्त्री द्वारा संपादित, बनारस ।

20. कूर्म पुराण-- पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि०सं० 1332 ।

21. कौटिल्य अर्थशास्त्र-- आर०शाम शास्त्री द्वारा संपादित, मैसूर, 1924 ।

22. गरुड़ पुराण-- क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बंबई, 1906 ।

23. गोपथ ब्राह्मण-- कलकत्ता, 1872 ।

24. गौतम धर्मसूत्र-- हरदत्त-भाष्य के साथ, हरिनारायण आप्टे द्वारा संपादित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1910 ।

25. गौतम धर्मसूत्र-- हरिनारायण आप्टे द्वारा संपादित, पूना, 1910 ।

26. चारूदत्त-- म0म0 गणपति शास्त्री द्वारा संपादित, त्रिवेन्द्रम्, 1914

27. छान्दोग्य उपनिषद्-- हरिनारायण आप्टे द्वारा संपादित, आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1913 ।

28. जयाख्यसंहिता-- एंबर कृष्णमाचार्य द्वारा संपादित, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, भाग 54, बड़ौदा, 1931 ।

29. जातक-- वी0 फसबल द्वारा संपादित, लंदन, 1877-97

30. तीर्थचिन्तामणि-- कमलकृष्णस्मृतितीर्थ द्वारा संपादित तथा एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता 1912

31. तैत्तिरीय आरण्यक, सायण-भाष्य-सहित-- हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना, 1898 ।

32. तैत्तिरीय संहिता-- कलकत्ता, 1854 ।

33. दशकुमार चरित -- काले द्वारा संपादित, बंबई, 1917 ।

34. दिव्यावदान-- कावेल द्वारा संपादित, कैम्ब्रिज, 1886 ।

35. देवी भागवत-- कमलकृष्ण स्मृतिभूषण द्वारा संपादित, बिबलोथेका इण्डिका, कलकत्ता, 1903 ।

36. नवसाहसांकचरित-- वामन शास्त्री द्वारा संपादित, बंबई, 1895 ।

37. नारदस्मृति-- , यौली द्वारा संपादित, कलकत्ता, 1885 ।

38. नारदीय पुराण-- खेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई ।

39. नित्याचारप्रदीप-- एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता

40. नैषधीयचरित-- म0म0पं0 शिवदत्त द्वारा संपादित, बंबई, 1907 ।

41. पद्म पुराण-- हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना, 1893 ।

42. पराशर स्मृति, माधवाचार्य-भाष्य सहित- बाम्बे संस्कृत सीरीज, बंबई, 1893-1911 ।

43. पवनदूत-- सी0आर0 चक्रवर्ती द्वारा संपादित, कलकत्ता ।

44. प्रायश्चित्तप्रकरण-- गिरीशचन्द्र वेदान्ततीर्थ द्वारा संपादित तथा वरेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, 1927 ।

45. प्रायश्चित्तविवेक -- जीवानंद विद्यासागर द्वारा संपादित, कलकत्ता, 1927

46. प्रियदर्शिका-- निर्णय सागर प्रेस द्वारा प्रकाशित, शकाब्द, 1806 ।

47. बृहत्संहिता-- कर्न द्वारा संपादित, बिब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता, 136

48. बृहद्धर्म पुराण-- कलकत्ता, वि0सं0 1314 ।

49. बृहदारण्यक उपनिषद्, शंकराचार्य-भाष्य तथा आनंदगिरि की टीका के साथ -- हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1914 ।

50. बृहन्नारदीय पुराण-- पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि०सं० 1316 ।

51. बृहस्पति स्मृति-- बड़ौदा, 1941 ।

52. ब्रह्म पुराण-- क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित बंबई 1906 ।

X~~ब्रह्मवैवर्त पुराण-- क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित बंबई, 1106~~ ।

53. ब्रह्मवैवर्त पुराण-- क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित बंबई, 1906 ।

54. ब्रह्मसूत्र, भास्कराचार्य-भाष्य सहित- विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 1915 ।

55. ब्रह्मसूत्र, शंकराचार्य-भाष्य तथा गोविन्दानंद की टीका के साथ--एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, 1863 ।

56. ब्रह्माण्ड पुराण-- क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बंबई, 1906 ।

57. बौधायन धर्मसूत्र-- श्रीनिवासाचार्य द्वारा संपादित, मैसूर 1907 ।

58. भविष्य पुराण-- क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई 1937

59. भागवत पुराण-- पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि0सं0, 1315 ।

60. भासनाटकचक्र-- सी0आर0देवधर द्वारा संपादित, पूना ।

61. मत्स्य पुराण-- हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना, 1907 ।

62. मनुस्मृति, कुल्लूक भट्ट भाष्य सहित-पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, वि0सं0 1320 ।

63. मनुस्मृति, मेधातिथि-भाष्य-सहित-गंगानाथ झा द्वारा संपादित एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बंगाल द्वारा प्रकशित, कलकत्ता, 1932 ।

64. महाभारत, नीलकंठ-भाष्य-सहित-पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, शकाब्द 1826-1830 ।

65. महाभाष्य-- एफ0 कीलहार्न द्वारा संपादित, बंबई ।

66. मानसार-- पी0के0 आचार्य द्वारा संपादित, आक्सफोर्ड ।

67. मालविकाग्निमित्र-- एस0 कृष्णराव द्वारा संपादित, मद्रास, 1930 ।

68. मार्कण्डेय पुराण-- क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बंबई ।

69. मुद्राराक्षस-- आर0के0 ध्रुव द्वारा संपादित, पूना, 1930 ।

70. मृच्छकटिक-- आर0डी0 करमारकर द्वारा संपादित, द्वितीय संस्करण, 1950 ।

71. याज्ञवल्क्य स्मृति-- वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री द्वारा संपादित, बंबई, 1926 ।

72. रघुवंश-- शंकर पण्डित द्वारा संपादित, गवर्नमेण्ट सेन्ट्रल बुक डिपो द्वारा प्रकाशित, 1897 ।

73. राजतरंगिणी-- दुर्गाप्रसाद द्वारा संपादित, संवत् 1934 ।

74. लिंग पुराण-- जीवानंद विद्यासागर द्वारा संपादित, कलकत्ता, 1885 ।

75. वराह पुराण-- कलकत्ता, 1893 ।

76. वामन पुराण-- पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि०सं०, 1314 ।

77. वायु पुराण-- हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना, 1905 ।

78. विष्णु धर्मसूत्र-- पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित, बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित कलकत्ता, वि०सं०, 1316 ।

79. विष्णुधर्मोत्तर पुराण-- क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई ।

80. विष्णु पुराण-- पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता वि०सं०, 1331 ।

81. शतपथ ब्राह्मण-- ए० वेबर द्वारा संपादित, 1924 ।

82. शिव पुराण-- वंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि०सं० 1314 ।

83. शिशुपालवध-- निर्णय सागर प्रेस, बंबई ।

84. श्रीभाष्य-- वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर द्वारा संपादित, बंबई, 1914 ।

85. शुक्रनीतिसार-- प्रयाग, 1914 ।

86. स्कन्द पुराण-- वंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, वि०सं० 1318 ।

87. स्मृति चंद्रिका-- श्रीनिवासाचार्य द्वारा संपादित, मैसूर, 1914-21 ।

88. स्मृति तत्त्व-- जीवानंद विद्यासागर द्वारा संपादित, मैसूर, 1914-21 ।

89. सौर पुराण-- पूना, 1924 ।

90. हरिवंश, नीलकण्ठ-भाष्य के साथ -- पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि०सं० 1312 ।

91. हर्षचरित-- फूरहर द्वारा संपादित, बंबई, 1909 ।

92. हारीत संहिता-- पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित, वंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि०सं० 1316 ।

आधुनिक शोध-ग्रन्थ (हिन्दी)

93. अग्रवाल, वासुदेवशरण-- प्राचीन भारतीय लोकधर्म, अहमदाबाद, 1964 ।

94. अग्रवाल, वासुदेवशरण-- मार्कण्डेय पुराण, एक सांस्कृतिक अध्ययन ।

95. उपाध्याय बलदेव-- पुराण विमर्श वाराणसी, 1965 ।

96. ओझा, मधुसूदन-- पुराणनिर्माणाधिकरणम् तथा पुराणोत्पत्तिप्रसंगः, जयपुर, सं0 2009 ।

97. चतुर्वेदी, परशुराम-- वैष्णव धर्म ।

98. टण्डन, यशपाल-- पुराण-विषय-समनुक्रमणिका ।

99. दिनकर, रामधारी सिंह-- भारतीय संस्कृति के चार अध्याय ।

100. पाण्डे, गोविन्दचन्द्र-- बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ, 1963 ।

101. पाण्डेय, राजबली-- पुराण-विषयानुक्रमणी ।

102. पाण्डेय, राजबली-- हिन्दू संस्कार ।

103. बुल्के, फादर कामिल-- रामकथा, इलाहाबाद, 1964 ।

104. भट्टाचार्य, रमाशंकर-- अग्निपुराणस्य विषयानुक्रमणी, वाराणसी, 1963 ।

आधुनिक शोध-ग्रन्थ (अंग्रेजी)

1. Ali, S.M. : The Geography of the Puranas, New Delhi 1966.

2. Allegro, John. : The Dead Sea Scrolls (Penguin, 1975).

3. Altekar, A.S. : The position of Women in Hindu Civiliza

4. ——"—— : State and Government in Ancient India.

5. Bajpai, K.D. : Indian Numismatic Studies, New Delhi 19

6. ——"—— : Cultural History of India, (Vol. I, (Madhya Pradesh), Delhi, 1985.

7. Bajpai K. Das : Early Inscriptions of Mathura-A Study, Calcutta, 1980.

8. Basak, R.G. : A Study of Mahavastu -Avadana,

9. Bagchi, P.C. : India and Central Asia.

10. Banerjee, J.N. : Development of Hindu Iconography.

11. Bashem, A.L. : Studies in Indian History and Culture.

12. ———— : (Ed.) Papers on the date of Kaniska, submitted at London Conference, 1960.

13. ———— : (Ed.) Papers on the Date of Kaniska, 1968.

14. Bhandarkar, D.R. : Some Aspects of Ancient Indian Polity.

15. ____________R.G. : Vaishnevism, Saivism and Minor Religious Sects.

16. Bhattacharya, S.C.: Some Aspects of Indian Society, Calcutta, 1978.

17. Bose, A.N. : Social and Rural Economy of Northern India, Vols. I, II.

18. Bose, A.N. : Social and Rural Economy in North India, 600 B.C. - A.D. 200 (in 2 Volumes), Calcutta, 1942-45.

19. Buhler, G. : Indische Palaeographic (1896, translated into English by Fleet in Indian Antiquary, Vol. XXXIII, 1904, Appendix, Reprinted in Indian Studies : Past and Present, Vol. I, Pt.3, Calcutta. 1959).

20. ______________ : Uber die indigsche (Eng: Tr. by J. Burgees under the Caption The Indian Sect of the Jainas). Vienna , 1887, London, 1903.

21. Burnell, A.C. : Elements of South Indian Palaeography, London, 1978.

22. Chadwick, John. : The Deciphemment of Linear B. (Second Edition, 1958).

23. Chakraborti, H.P. : Early Brahmi Records of India, Calcutta, 1974.

24. Chattopadhyay, B. : The Age of the Kushanas - A Numismatic Study.

25. ______________ : Kushana State and Indian Society.

26. ______________ : The Sakas in India.

27. Dales, George, F.(Ed.) : New Inscriptions from Mohenjodaro, Pakistan, Kramer Anniversary Volume, 1976.

28. Dani, Ahmad Hasan : Indian Paleography, London, 1963.

29. __________ : Chilas (The City OF, Nangaparvat), Islamabad, 1983.

30. Das, S.K. : Economic History of Ancient India.

31. Das, S.K. : Economic History of Ancient India, Calcutta, 1925.

32. Diringer, D. : The Alphabet, London, 1953.

33. Driver, G.R. : The Semitic Writing, (Revised Edition), London, 1976.

34. Dutt, N. : Aspects of Mahayena Buddhism and its Relation to Hinayana, London, 1930.

35. Eliot : Hinduism and Buddhism, (in 3 Volumes).

36. Fick, R. : The Social Organization in North-East India in Buddha's Time.

37. Field, Henry and Larid, Edith M. (Eds) : Soviet Studies on Harappan Script by G.V. Alekseev, Yu. V. Knorozov, Translated by Hem Chandra Pandey, FRP. Occasional Paper No. 6, 1976.

38. Gadd, C.J. : Seals of Ancient Indian Style found at Ur. PBA XVIII, 1932.

39. Gafurav, B. et al. : Kushana Studies in U.S.S.R.

40. Gelb, I.J. : A Study of Writing, Chicago, 1962.

41. Ghirshman, R. : Iran.

42. Ghoshal, U.N. : Contributions to the History of the Hindu Revenue System, Calcutta, 1929.

43. ____________ : A History of Indian Political Ideas.

44. ____________ : Studies in Indian History and Culture.

45. Gopal, Lallanji : Economic History of Northern India, C. A.D. 700 - 1200, Delhi, 1965.

46. Gupta, S.P. and Ramachandran (Ed) : The Origin of Brahmi Script, Delhi, 1979.

47. "Hellow William, M. and Briggs Buchanan : A "Persian Gulf Seal" on an Old Babaylonian Mercantile Agreement, Studies in Honour of Benno Landsberg, Chicago, 1965.

48. Hazra, R.C. : Puranic Records on Hindu Rites and Customs.

49. Hultrch, S. Konow, H. Luders, E. Waldschmidt, M. A. Mendala, Fleet, and V. V. Miraghi. (Eds.) : Corpus Inscriptionum Indicarum, Volumes 1 to 6.

50. Hunter, G. R. : The Script of Harappa and Mohenjodaro and its relations with other scripts, London, 1934.

51. Jairazbhoy, R. A. : Foreign Influence in Ancient India.

52. Jaiswal, S. : The Origin and Development of Vaishnavism (Vaisnavism from 200 B.C. to A.D. 500), Delhi, 1967.

53. Janert, Klaus L. (Ed.) : Mathura Inscriptions (containing unpublished papers of H. Giders), Cottingen, 1961.

54. Jeffery, L.H. : The Local Scripts of Archaic Greece, London, 1970.

55. Jha, D.N. : Revenue System in the Post Maurya and Gupta Time.

56. Kane, P.V. : History of Dharmasastra.

57. Karn : Manual of Indian Buddhism, Strassburg, 1896.

58. Kosambi, D.D. : Introduction to the Study of Indian History.

59. Lal, B.B. : The Direction of Writing in the Harappan Script, ICCA, 1961.

60. Lal B.B. : Has the Indus Script been Deciphered, PBA, 1973.

61. Law, N.N. : Aspects of Ancient Hindu Polity.

62. Leeu W., Von Lohuizende : The Scythian Period.

63. Mahalingam, T.V. : Early South Indian Palaeography, Madras, 1967.

64. "Mahadevan, I. : Indus Script, New Delhi, 1977.

65. Mitra, A. : Terms of Trade and Class Relations, London, 1977.

66. Mongait, A.L. : Archaeology in the U.S.S.R.

67. Motichandra : The History of Indian Costume from 1st Century A.D. to the Beginning of th 4th Century A.D., 1940.

68. Mughal, M. Rafique : Present State of Research on the Indus Civilization, Karachi, 1972.

69. ____________ : A Summary of Excavations and Explorations in Pakistan, Karachi, 1972.

70. Mukherjee, B.N. : The Kushana Genealogy.

71. Mukherjee, B.N. : Kusana ~~Copies~~ Coins in the Land of Five Rivers, Calcutta, 1979.

72. ____________ : An Agrippan Source - A Study in Indo- Pakistan History, Calcutta, 1969.

73. ____________ : The Kusanas and the Deccan, Calcutta, 1968.

74. ____________ : Disintegration of the Kusana Empire, Varanasi, 1976.

75. ____________ : Studies in Kushana Genealogy and Chronology, Calcutta, 1967.

76. ____________ : The Economic Factors in Kushana History.

77. Mukerjee, : Some Aspects of Social Life in Ancient India, Allahabad, 1976.

78. Narain, A.K. : The Indo-Greeks.

79. Ojha, G.H. : Bharatiya Prachina Lipimala (in Hindi) . Delhi, 1959 (Reprint).

80. Pandey, R.B. : Indian Palaeography, Varanasi, 1952.

81. Parpola, Asko et al : Decipherment of the Proto Dravidian Indus Inscriptions of the Indus Civilization: A First Announcement. The Scandinavian Institute of Asian Studies, special Publication No. 1, Copenhegan, 1969.

82. ———— : Progress in the Decipherment of Proto-Dravidian Indus Script, STAS, SP. No. 3, 1970.

83. ———— : Further Progress in the Indus Script Decipherment, SIAS, Sp. No. 3,1970.

84. ———— : Materials for the study of the Indus Script, Helsinki, 1973.

85. Pope, Mausice : The Story of Decipherment, London, 1975.

86. Pran Nath : A Study in the Economic condition in Ancient India, London, 1929.

87. Prasad, Beni : THE STATE IN ANCIENT INDIA, ALLAHABAD, 1928

88. Puri, B.N. : India Under the Kushanas, Bombay, 1968.

89. Puri, B.N. : KUSANA BIBLIOGRAPHY CALCUTTA, 1977.

90. Ramesh, K.V. : Indian Epigraphy, Volume 1, Delhi, 1984.

91. Rāo, M.V.N.K. : Foreign Rulers in Indus Seals, 1973.

92. Rao, S.R. : A Persian Gulf Seal from Lothal, Antinuary XXXVII, 1963.

93. Rao, S.R. : The Decipherment of the Indus Script, Delhi, 1982.

94. Raychoudhuri, H.C. : Political History of Ancient India.

95. ________________ : Materials for the study of the Early History of the Vaisnava Sect, Calcutta, 1936.

96. Rhys Davids, Mrs. C.A.F. : The Milinda Questions, London, 1930.

97. ________________ : Buddhism : Its Birth and Dispersal, London, 1934.

98. Rhys Davids, T.W. : Buddhism, Its History and Literature.

99. ________________ : History of Indian Buddhism, London, 1897.

100. Rosenfield, J.M. : The Dynastic Arts of the Kushanas.

101. Samaddar, J.N. : Economic Condition in Ancient India, Calcutta, 1922.

102. Sen, A.C. : Schools and Sects in Jain Literature, Calcutta, 1931.

103. Sharma, G.R.(Ed.) : Kushana Studies

104. ______________ : Kusana Studies, presented to the Diushanbe Conference (Sept. 25 - Oct. 4, 1968), containing three papers 'Kusana Architecture with special reference to Kaushambi' by G.R.Sharma, 'Saka-Kusanas in Central Ganga Valley' by G.R.Sharma and J.S.Negi, and 'Some Aspects of Changing Order in India during the 'Saka-Kusana Age' by B.N.S.Yadava.

105. Sharma, R.S. : Aspects of Political Ideas and Institutions.

106. ______________ : Light on Early Indian Society and Economy.

107. ______________ : Sudras in Ancient India.

108. Shastri, A.M. : Kausambi Board, of Magha Coins, Nagpur, 1979.

109. ______________ : India as seen in the Brihatsamnita of ~~of~~ Varahamihira, 1969.

110. Sircar, D.C. : Select Inscriptions, Vol. I, Calcutta, 1965. (Reprint).

111. ______________ : Select Inscriptions, Vol. II, Delhi, 1983.

112. ______________ : Indian Epigraphy.

113. ______________ : Indian Epigraphical Glossary, Delhi, 1966.

114. Sivaramamurti, C. : Indian Epigraphy and South Indian Scripts, Madras, 1954.

115. Subramaniam, T.N. : South Indian Temple incriptions, Vol. III, pt. II, Madras.

116. Taylor, Isaac : The Alphabet.

117. Thapar, R. : Asoka and the Decline of the Mauryas.

118. Upasak, C.S. : History of Palaeography of Mauryan Brahmi Script, Nalanda, 1960.

119. Verma, T.P. : The Palaeography of Brahmi Script in North India (From C. 236 B.C. to 200 A.D.), Varanasi, 1971.

120. Vogel, J.Ph. : Indian Serpent Lore (Naga Worship in the Kusana period), London, 1926.

121. Wheeler, R.E.M. : Rome Beyond the Imperial Frontier.

122. Yadava, B.N.S. : Society and Culture in northern India in the Twelfth Century, Allahabad, 1973.

प्राच्य विद्या की महत्वपूर्ण पत्रिकाएँ

1. American Anthropologist.
2. American Historical Review.
3. Ancient India.
4. Ancient Pakistan.
5. Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute.
6. Annual Report on Indian Epigraphy.
7. Annual Report on South Indian Epigraphy.
8. Antiquity.
9. Archaeological Survey of India.
10. Archaeological Survey of India, Annual Reports.
11. Archaeological Survey of Western India.
12. Ashutosh Mookerjee Silver Jubilee Volume, 3 Volumes in 4 Parts, Calcutta, 1922-28.
13. Epigraphia Carnatica.
14. Epigraphia Indica.
15. Indian Antiquary.
16. Indian Archaeology, a Review.
17. Indian Culture.
18. Indian Historical Quarterly.

19. Indian Historical Review.

20. Journal of the American Oriental Society.

21. Journal of Asian Studies.

22. Journal of the Asiatic Society of Bengal.

23. Journal of Bihar and Orissa Research Society.

24. Journal of Bihar Research Society.

25. Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society.

26. Journal of the Economic and Social History of the Orient.

27. Journal of the Epigraphical Society of India.

28. Journal of the Ganganath Jha Research Institute.

29. Journal of the Numismatic Society of India.

30. Journal of Oriental Institute, Baroda.

31. Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland.

32. Our Heritage.

33. Poona Orientalist.

34. Proceedings of the Indian History Congress.

35. Proceedings of the International Congress of Orientalist.

36. Purana (Haft Yearly Bulletin of the Purana Department, All India Kashiraj Trust, Varanasi.

SOME ASPECTS OF MATHURA AND KAUSAMBI BRAHMI INSCRIPTIONS FROM Ist CENTURY B. C. TO CIRCA 300 A.D.

(IN HINDI)

ABSTRACT

Thesis Submitted for the Degree of
Doctor of Philosophy
of
University of Allahabad

Supervisor
Prof. S. N. ROY

By
ANAND SHANKER SINGH

DEPARTMENT OF ANCIENT HISTORY
CULTURE AND ARCHAEOLOGY
UNIVERSITY OF ALLAHABAD
1990

कौशाम्बी एवं मथुरा का पुरैतिहासिक एवं पुराभिलेखिक परिचय

अभी तक सर्वेक्षित एवं समुत्खनित शोधों से यह सुव्यक्त हो चुका है कि प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर लगभग तीन सौ ईस्वी तक गंगा की घाटी में कौशाम्बी एवं मथुरा सुप्रसिद्ध नगरों के रूप में प्रतिष्ठित थे। कौशाम्बी के अवशेष आधुनिक इलहाबाद से लगभग 32 मील दक्षिण-पश्चिम दिशा में प्राप्त हुये हैं। उत्खनन-गवेषकों की समीक्षा के अनुसार द्वितीय सहस्राब्दी ईसापूर्व के उत्तरार्द्ध में नगर-जीवन की उत्क्रान्ति के परिणाम में कौशाम्बी की प्रतिष्ठापना उन लोगों की क्रिया-कलाप के परिणाम में हुई, जो हड़प्पा संस्कृति के समुन्नायकों के सन्निकर्ष में थे, तथा इन्हीं लोगों से पुर-मापन एवं दुर्ग-विधान की धारणा को अपनाया एवं इसके साथ ही वास्तु-कला के अनेक उद्धृत तत्वों को क्रियान्वित भी किया गया। इन्होंने ही मध्य गंगा की घाटी में नागरीय उत्क्रान्ति को केन्द्रित किया। इनका समीकरण इण्डो-आर्यन जाति की उस शाखा से किया जा सकता है, जिन्होंने इस भूक्षेत्र में ताम्र-युग का सूत्रपात किया। इसकी कालावधि उन मृद्भाण्डों की पूर्ववर्त्तिनी मानी जा सकती है, जिन्हें नार्दर्न ब्लैक पालिश वेयर एवं पेन्टेड ग्रे वेयर की संज्ञा दी जाती है। यद्यपि समय-समय पर कनिंघम (1861 ईस्वी) एवं एन॰जी॰ मजुमदार (1937 ईस्वी) जैसे विद्वानों ने कौशाम्बी को सर्वेक्षण एवं समुत्खनन का विषय बनाया, तथापि एक निश्चित एवं वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार (1949 ईस्वी में इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने कौशाम्बी-उत्खनन का दायित्व सम्हाला, तथा अनुवर्ती अनेक वर्षों में

कौशाम्बी के विभिन्न हिस्सों को उत्खनित कर इसके अतीत कालीन इतिहास को गवेषित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया । उत्खनित हिस्से निम्नोक्त हैं :

﴾1﴿ वह विशेष भाग जिसे अशोकन पिलर एरिया की संज्ञा दी जाती है । यहाँ प्राचीन राजमार्गों के संकेतक साक्ष्य मिले हैं । यहीं पर सामान्य नागरिकों के आवासों के अस्तित्व का अनुमान लगाया गया है । इसके चतुर्दिक सुरक्षा प्राचीर प्रकाश में लाये गये है ।

﴾2﴿ वह हिस्सा जहाँ घोषिताराम विहार स्थित था । पालि साहित्य की सूचना के अनुसार इस विहार को वत्सराज उदयन के कोषाध्यक्ष घोषित ने भगवान-बुद्ध के आवासार्थ बनवाया था । त्रिपिटक में निबन्धित वर्णन के अनुसार इस विहार में बुद्ध ने भिक्षुओं को कतिपय महत्त्वपूर्ण सुत्तों एवं जातकों से अवगत कराया था । महावंस की सूचना के अनुसार इसी विहार से तीस हजार भिक्षुओं का एक शिष्टमंडल सिंहल द्वीप गया था । गुप्तकालीन चीनी बौद्ध यात्री के समय यह विहार पतनोन्मुख अवस्था में था । सातवीं शताब्दी के चीनी बौद्ध यात्री ह्वेनसांग को यह विहार केवल ध्वंसावशेष के रूप में मिला था ।

﴾3﴿ उत्खनन-शोधों के परिणाम में कौशाम्बी के पुरावशेषों के पूर्वीद्वार पर इष्टिकाओं से निर्मित प्राचीर-परिवेष्टन के सुस्पष्ट साक्ष्य मिले है, इसमें स्थान-स्थान पर प्रहरी-कक्ष के अवशेष भी मिले हैं, जिसके आधार पर इस

नगर के दुर्ग-विधान का मूल्यांकन किया जा सकता है ।

(4) नगर के दक्षिण-पूर्वी भाग में एक प्राचीन राजप्रासाद के अवशेष मिले हैं । इसके निर्माण के द्योतक चार स्तर प्रकाश में है । चतुर्थ स्तर विशेषतया महत्वपूर्ण है, जब कि इस राजप्रासाद की वास्तु-शैली में उस पद्धति को अपनाया गया जिसे पुरातत्त्व-विदों ने HYBRID ARCHITECTURE की संज्ञा प्रदान की है ।

मौद्रिक एवं अभिलेखिक साक्ष्यों से यह सिद्ध हो जाता है कि द्वितीय एवं प्रथम शताब्दी ईसापूर्व के अन्तर्वर्त्ती काल में कौशाम्बी की शासन-सत्ता मित्र राजवंश के अधीनस्थ थी, इसी अन्तर्वर्ती अवधि में कौशाम्बी की सभ्यता के भौतिक पक्ष को शकों ने प्रभावित किया था । इसकी संज्ञापक वे मृण्यमी मूर्तियाँ हैं जिनकी मुखाकृतियों से शक-पहल्व तत्त्व आभासित होते हैं । घोषिताराम विहार से उपलब्ध आयागपट्ट अभिलेख की ब्राह्मी की शिल्प-विधि उस अभिलेख की ब्राह्मी की समस्तरीय है, जो मथुरा से प्राप्त हुआ है तथा जिसमें शक-क्षत्रप नरेश राजुल का सन्दर्भ प्राप्त होता है । इससे केवल शक सभ्यता के संक्रमण का संज्ञापन होता है, शकों की प्रभुता नहीं सिद्ध होती है । मौद्रिक एवं अभिलेखिक साक्ष्य यह भी सिद्ध कर देते हैं कि मित्र वंश के उपरान्त कौशाम्बी पर कुषाण-वंश की ही प्रभुता स्थापित हुई थी । लगभग द्वितीय शताब्दी ईस्वी तक यह नगर कुषाणों की ही सत्ता में अवस्थित था । लगभग द्वितीय एवं तृतीय शताब्दी ईस्वी का अन्तर्वर्त्ती स्तर पर कौशाम्बी के राजनीतिक इतिहास का जो प्रकर्ष, विप्रकर्ष अथवा अपकर्ष हुआ

था, उसमें मघ राजवंश के शासकों ने प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया था । यह ध्यातव्य है कि कौशाम्बी उत्खनन के स्तरीकरण के साक्ष्य से ऐसा अभि-द्योतित होता है कि यहाँ मघों की शासन-सत्ता की स्थापना के पूर्व किसी नेव अथवा नव नामक शासक की सत्ता स्थापित थी । किस विशेष राजवंश से इसका सम्बन्ध था अथवा अन्य अनेक पुरातात्त्विक अथवा साहित्यिक साक्ष्यों से विदित कौशाम्बी के किस विशेष राजवंश में इसका आविर्भाव हुआ था, इस आशय की संज्ञापक कोई निश्चित सूचना नहीं मिलती है। किन्तु स्तरीकरण क्रम के अनुसार यह सुनिश्चित हो जाता है कि इस नरेश का आविर्भाव 150 ईस्वी के आसपास हुआ था । अभी तक के शोधों से इस नरेश की केवल दो मुद्राएँ उपलब्ध हुई हैं. जिन पर द्वितीय शती ईस्वी की ब्राह्मी में नेव अथवा नव शब्द अंकित है ।

कौशाम्बी-उत्खनन से जो अन्य महत्त्वपूर्ण मुद्रा उपलब्ध हुई है, उस पर किसी पुश्वश्री नामक शासक का नामांकन हुआ है । इस मुद्रा के पुरोभाग पर दाहिनी ओर चैत्य वृक्ष का अंकन है, तथा बाईं ओर सुमेरू की आकृतियाँ अंकित हैं । पृष्ठतल पर कौशाम्बी जनपद का पारम्परिक प्रतीक वृषभ का अंकन प्राप्त होता है । यह ध्यातव्य है कि मुद्रांकित ब्राह्मी के अक्षर-आकार चतुर्थ शताब्दी ईस्वी के प्रतीत होते हैं । स्तरी-करण के क्रमानुसार भी इस मुद्रा का समय चतुर्थ शताब्दी ईस्वी के आसपास ठहरता है । सम्भवत: मुद्रांकित पुश्वश्री का आविर्भाव कौशाम्बी के किसी स्थानीय

~~कौशाम्बी के किसी स्थानीय~~ "श्री" शब्दान्त नामक राजवंश में हुआ था । इसी राजवंश में सम्भवतः अन्य मुद्रांकनों से विदित विष्णुश्री नामक नरेश का आविर्भाव हुआ था ।

इस प्रकार कौशाम्बी के राजनीतिक इतिहास के अंकन में पुरातात्विक पुराभिलेखिक एवं मौद्रिक साक्ष्यों से विदित होता है कि द्वितीय शताब्दी ईसापूर्व से प्रथम शताब्दी ईस्वी तक यहाँ स्थानीय मित्र राजवंश की सत्ता प्रतिष्ठापित थी, जिसे कुषाणों ने अपदस्थ किया था । द्वितीय शताब्दी ईस्वी के लगभग यहाँ कुषाण-सत्ता का अवसान हुआ । इस विन्दु पर किसी नेव अथवा नव नामक शासक ने अपनी सत्ता स्थापित किया । द्वितीय शताब्दी ईस्वी, से लेकर लगभग 300 ईस्वी तक यहाँ मघ राजवंश का शासन चलता रहा । मघ-सत्ता के अवसान-विन्दु पर "श्री" नामान्त राजवंश की सत्ता स्थापित हुई, जिसे समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त्त के अन्य नरेशों एवं राजवंशों के साथ उन्मूलित कर सुदीर्घ काल के लिये कौशाम्बी को गुप्त साम्राज्य में अन्तर्निहित कर लिया था ।

सामान्यतया आधुनिक अनुसन्धाता यह मानकर चलते हैं कि कुषाण-काल तक कौशाम्बी नागरीय वैभव का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था । इसके साथ-साथ बार-बार इस बात पर बल दिया जाता है कि कुषाणोत्तर काल में इसके आर्थिक, एवं व्यापारिक गौरव की छवि धूमिल बन चुकी थी । वस्तु-स्थिति के निष्पक्ष स्वरूपांकन के लिये यह ध्यातव्य है कि अभी तक गवेषकों

ने कौशाम्बी का केवल शैर्षिक उत्खनन किया है, जिसके परिणाम में इस नगर का केवल एकांगी एवं आंशिक विश्लेषण हो सका है। वस्तुत: किसी पुरातन नगर के ध्वंसावशेषों के सर्वांग विश्लेषण के लिये शैर्षिक-क्षैतिज उत्खनन आवश्यक हो जाता है। सामान्यतया ह्वेन सांग के विवरण को स्वीकार कर लिया जाता है कि कौशाम्बी का वह क्षेत्र-विशेष जिसे घोषिताराम की संज्ञा प्रदान की जाती है चीनी यात्री के काल में उजड़ चुका था। इस सन्दर्भ में विद्वानों का ध्यान घोषिताराम विहार से ही उपलब्ध एक मृण्मय शतदल पर अंकित अभिलेख की ओर आकर्षित किया जा सकता है, जो घोषिताराम विहार से ही प्राप्त हुआ था, जिसमें गुप्तकालीन ब्राह्मी को व्यवहार में लाया गया है। अभिलेखांकन के अनुसार किसी धर्मप्रदीप ने घोषिताराम विहार में इस दान-क्रिया को भगवान् बुद्ध की गन्धकुटी में सभी जीवों के अनुत्तर ज्ञान की प्राप्ति के लिये सम्पन्न किया था। यदि इतिहास के अंकन में आभिलेखिक साक्ष्य की उपादेयता निरापद मान ली जाय, तो आलोचित अभिलेख की ऐतिहासिक अभिव्यंजना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि गुप्तकाल में घोषिताराम का महत्त्व धूमिल नहीं हुआ था, तथा कौशाम्बी को बौद्ध धर्म का प्रतिष्ठित केन्द्र माना जाता था। इसी सन्दर्भ में कौशाम्बी-उत्खनन से ही उपलब्ध दसवीं शताब्दी ईस्वी की नागरी लिपि में अभिलिखित एक प्रस्तरखण्ड को प्रसंगित किया जा सकता है। अभिलेखांकित खण्डित वाक्य में कौशाम्बी को महानगर की संज्ञा प्रदान की गई है (अवनीतले महानगरे)। ऐकान्तिक साक्ष्य के रूप में ही सही, आलोचित अभिलेख

इस तथ्य का संकेतक है कि पूर्व मध्य काल में कौशाम्बी का गौरव धूमिल नहीं हो सका था । इस बात की पूर्ण सम्भावना लगती है कि भविष्यत्कालीन क्षैतिज उत्खनन के परिणाम में ऐसे साक्ष्य मिल सकते हैं, जिनसे यह सिद्ध किया जा सके कि कुषाणोत्तर काल में कौशाम्बी का नागरीय गौरव बाधित नहीं हो सका था ।

उक्त पुरातात्त्विक अभिव्यंजनाओं का ताल-मेल साहित्यिक साक्ष्यों से सन्तोष-जनक रूप में बैठता है । इनसे सूचना मिलती है कि कौशाम्बी की गणना उत्तर भारत के 6 प्रसिद्ध नगरों में की जाती थी । वाणिज्य-व्यापार का प्रतिष्ठित केन्द्र होने के कारण ही इसे वत्स-पत्तन की संज्ञा मिली थी । यदि एक ओर इसका व्यापारिक सम्बन्ध मथुरा, पाटलिपुत्र, राजगृह, चम्पा तथा वाराणसी आदि नगरों से था, तो दूसरी ओर इसकी स्थिति उस व्यापारिक मार्ग पर थी, जो उज्जयिनी और राजगृह को जोड़ता था । एक अन्य प्रसिद्ध व्यापारिक मार्ग प्रतिष्ठान से साकेत जाता था । जिस पर उज्जयिनी, माहिष्मती, विदिशा, साकेत, कपिलवस्तु, पावा, कुशीनगर तथा वैशाली, के अतिरिक्त कौशाम्बी भी स्थित था ।

कौशाम्बी की ही भाँति मथुरा भी प्राचीन भारत में व्यापार का एक प्रतिष्ठित केन्द्र था । बौद्ध ग्रन्थों की सूचना के अनुसार यहाँ के नागरिकों ने इन्द्रप्रस्थ, श्रावस्ती, कौशाम्बी एवं वैशाली जैसे नगरों के साथ अपना व्यापारिक सम्पर्क स्थापित किया था । इस नगर के सांस्कृतिक

समुत्कर्ष का सूक्ष्म परीक्षण पतंजलि ने अपने महाभाष्य में किया है, तथा इस बात पर बल दिया है कि यहाँ के नागरिक पाटलिपुत्र एवं सांकाश्य की अपेक्षा अधिक शिष्ट होते थे। द्वितीय श0 ईसा पूर्व के लगभग मथुरा पर शुंगों की सत्ता स्थापित थी, यद्यपि इस आशय के संज्ञापक विश्वसनीय साक्ष्य अभी तक नहीं मिल सके हैं। किन्तु इतना स्पष्ट है कि प्रथम श0 ईसा पूर्व के आसपास यहाँ शक-क्षत्रपों की प्रभुता स्थापित हो चुकी थी। इन विदेशी शासकों की सत्ता के अभिद्योतक अनेक अभिलेख एवं मुद्राएँ उपलब्ध हो चुकी हैं। सम्बन्धित अभिलेखांकनों एवं मुद्रांकनों में शक-नरेश हगामश, राजुल, तथा शोडास के शासन को प्रसंगित किया गया है। ध्यातव्य है कि मथुरा पर विदेशी शासकों की सत्ता-अवसान शक-क्षत्रपों के साथ नहीं हुआ था। कुषाण-शासक कनिष्क हुविष्क और वासुदेव के उपलब्ध अनेक अभिलेख यह सुव्यक्त कर देते है कि शक-संवत् 4 से लेकर 98 (अर्थात् 82 ईस्वी से 176 ईस्वी) तक कुषाणों की सत्ता यहाँ बनी रही। समान निष्कर्ष उन कुषाण-शासकों की मुद्राओं के आधार पर भी निकाला जा सकता है, जिनके अक्षरांकनों में वेमा काडफिसीज, सोतेर मेगास, कनिष्क, हुविष्क एवं वासुदेव का प्रसंग मिलता है। सम्बन्धित अभिलेखों में कभी-कभी ऐसे कुषाण-शासक का नाम भी प्रसंगित हुआ है जिसके सही पहचान के विषय में विद्वान् मतैक्य नहीं हैं। ऐसा ही एक नाम षाहि वमतक्ष है। कुछ-एक विद्वानों ने इसे वेमा काडफिसीज के साथ समीकृत किया है। कुछ-एक के अनुसार इसका अविर्भाव वेमा कॉडफिसीज एवं कनिष्क प्रथम

के शासन काल के अन्तर्वर्त्ती अवधि में हुआ था । ऐसी भी सम्भावना की जाती है कि इसका आविर्भाव कुषाण-वंश में ही हुआ था, तथा वह वासुदेव के उपरान्त का शासक बलात् बन बैठा था । अधिक आदरणीयता उस मत में दिखाई देती है, जिसके अनुसार वमतक्ष की पहचान हुविष्क के पितामह से की जाती है । अभी तक के सर्वेक्षण एवं समुत्खननशोधों के परिणाम में कनिष्क एवं उसके उत्तराधिकारीयों को प्रसंगित करने वाले इतना अधिक संख्या में मथुरा से अभिलेख उपलब्ध हो चुके हैं कि इस सम्भावना को स्वीकार करने में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि लगभग एक शताब्दी तक कुषाणों की सत्ता मथुरा पर स्थापित रही । मथुरा पर शासन करने वाला अन्तिम कुषाण-सम्राट् वासुदेव तृतीय था । चीनी साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह 230 ईस्वी में शासन कर रहा था । सम्भवत: मथुरा में कुषाण-शासन का अन्तिम स्तर 230 ईस्वी माना जा सकता है ।

मथुरा में कुषाण-सत्ता के अवसान के उपरान्त, किन परिस्थितियों में नाग-शासकों की सत्ता स्थापित हुई यह निश्चित नहीं है । सम्बन्धित साक्ष्यों के अल्पसंख्यक होने के कारण मथुरा पर शासन करने वाले नाग-शासकों के इतिहास का अंकन भी सन्तोष-जनक रूप में नहीं किया जा सकता है । पौराणिक ग्रन्थ केवल सामान्य ढंग से ऐसा बताते है कि मथुरा-क्षेत्र में सात की संख्या में नाग-शासकों ने शासन किया था । ~~महासत्त्व~~ मौद्रिक साक्ष्य केवल महाराज गणपति नाग नामक नाग-नरेश का नाम उद्घाटित करते हैं जिसकी मुद्राएँ अन्य विविध स्थानों में पद्मावती एवं विदिशा के अतिरिक्त

मथुरा से भी उपलब्ध हुई हैं । इसी नरेश को गणेन्द्र की भी संज्ञा मिली थी, जिसकी मुद्रा कौशाम्बी से भी मिली है । समुद्रगुप्त के इलाहाबाद के स्तम्भ-अभिलेख से सूचना मिलती है कि सम्भवत: गणपति-नाग अपने वंश का अन्तिम शासक था, जिसे समुद्रगुप्त ने आर्य्यावर्त्त के अन्य शासकों के साथ उन्मूलित किया था ।

अभिलेखिक एवं मौद्रिक साक्ष्यों के अतिरिक्त मथुरा के अतीत का अंकन ब्राह्मण एवं ब्राह्मेतर वाङ्मय में भी हुआ है । उक्त अनुच्छेद में महाभाष्य का सन्दर्भ प्रसंगित किया जा चुका है । हरिवंश में ऐसा आख्यान है कि इस नगर की स्थापना दशरथ के पुत्र शत्रुघ्न ने किया था । यहाँ पर किसी समय एक सघन उपवन था, जिसमें मधु नामक राक्षस का निवास था । इसी राक्षस का संहार करने के उपरान्त शत्रुघ्न ने उसके नाम पर मथुरा की स्थापना की। मथुरा के अतिरिक्त इस नगर के लिये मेथोरा, मदुरा, म-त-औ-लो, शौरीपुर, सूर्य्यपुर तथा सौर्यपुर जैसे नाम आख्यात हुये थे । इसकी आर्थिक एवं व्यापारिक गतिशीलता पर प्रकाश डालते हुये बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ दिव्यावदान प्रसंगित करता है कि पाटलिपुत्र से मथुरा तक नावों का इतना अधिक गमन-प्रत्यागमन, तथा संचार एवं प्रतिसंचार होता रहता था कि ऐसा प्रतीत होने लगता था कि दोनों नगरों के बीच नावों का विस्तृत पुल निर्मापित हुआ हो । उक्त सन्दर्भित ग्रन्थ हरिवंश ने इसकी विशेषताओं को प्रख्यापित करते हुये आख्यात किया है कि यह नगर अर्द्धचन्द्र के आकार

में यमुना के तट पर स्थित था । इसके चतुर्दिक एक खाई थी, तथा यह एक मिट्टी के प्राकार से परिवेष्टित था । इसमें श्रेष्ठ प्रासाद बने थे, मनोज्ञ उपवन थे । हाथी, घोड़े और रथों के संचार के कारण इस नगर में व्यस्तता बनी रहती थी । यहाँ पर बाजारों का दृश्य बड़ा ही सुन्दर होता था ललित विस्तार में इस नगर की विशालता, जन-संख्या की प्रचुरता, सम्पन्नता को सन्दर्भित करते हुये इस बात पर भी बल दिया गया है कि यह नगर भिक्षाटन की दृष्टि से अतीव अनुकूल माना जाता था ।

उक्त अनेक तर्कों एवं साक्ष्यों के आलोक में निम्नोक्त महत्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित होते हैं: (1) प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर लगभग तीन सौ ईस्वी तक गंगा की घाटी में कौशाम्बी एवं मथुरा सुप्रसिद्ध नगरों के रूप में प्रतिष्ठित थे । (2) अभी तक किये गये सर्वेक्षण एवं समुत्खनन-शोधों से यही सुव्यक्त होता है कि अधिकांशतः इन दोनों नगरों में ब्राह्मेतर (बौद्ध एवं जैन) परम्पराओं का उदय एवं विकास हुआ था । किन्तु ऐसे विश्वसनीय साक्ष्य उद्घाटित होते जा रहे हैं, तथा उन्हें वैदुष्य निकष का विषय भी बनाया जा रहा है, जो ऐसी संभावना को साकार करते जा रहे हैं कि ब्राह्म परम्परा का इन केन्द्रों से तिरोभाव नहीं हुआ था । (3) दोनों ही केन्द्रों में आलोचित कालावधि के राजनीतिक आघात-प्रतिघात का समान रूप में प्रभाव पड़ा था । दोनों ही केन्द्रों ने वैदेशिक सत्ता का अनुभव लगभग तीन सौ ईस्वी तक किया था, तथा दोनों ही क्षेत्रों में गुप्तों

के अभ्युदय के उपरान्त चिरोत्सन्न वैदिक परम्परा का प्रस्फुटन एक नये सिरे से हुआ था । ४4४ दानों ही क्षेत्रों से आलोचित कालावधि से सम्बन्धित ब्राह्मी के अभिलेख प्रचुर संख्या में उपलब्ध हुये हैं । इनकी लिपि एवं भाषा के गठन में पर्याप्त समानता दृष्टिगोचर होती है । इनके आधार पर सम्बन्धित कालावधि की संस्कृति को समुद्घाटित करने वाले विभिन्न पक्षों को अध्ययन, अनुशीलन एवं गवेषणा का विषय बनाया जा सकता है ।

आलोचित कालावधि के अभिलेखों में सामाजिक तत्त्व

कौशाम्बी एवं मथुरा से उपलब्ध आलोचित कालावधि के ब्राह्मी-अभिलेख ब्राह्मण एवं ब्राह्मणेतर दोनों ही परम्पराओं के सह-अस्तित्व को सन्दर्भित करते हैं । ध्यातव्य है कि जैन एवं बौद्ध धर्मों के संज्ञापक अभिलेख बहुधा नागरीय परिसर से मिले हैं । ऐसे क्षेत्र जैन एवं बौद्ध धर्मों की व्यापन-परिधि में अन्तर्भूत थे । इनके सन्नियमन एवं सन्निधापन की गुरुता के वोढा वाणिज्य -वृत्ति एवं शिल्प-वृत्ति के पोषक नागरक प्रतीत होते हैं । वैदिक धर्म की संजीवनी की पृष्ठभूमि में ग्राम्यपरकता की प्रवृत्ति क्रियाशील प्रतीत होती है । इसके संवहन की गुरुता का भार ग्रामणी एवं ग्राम-शासक पर था । तत्कालीन साक्ष्य यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि यद्यपि कौटिलीय व्यवस्थापना में सामाजिक गति-विधि पर राज्य का नियंत्रण था, तथापि कौटिल्योत्तर काल में, विशेषतया कुषाण-कालीन समाज में राज्य का सर्वांशि नियमन नहीं था । सम्राट् की ओर से प्रान्तीय शासन की देख-रेख के लिये क्षत्रपों की नियुक्ति की जाती थी । किन्तु ग्रामणी अथवा ग्रामशासक जैसे सन्नियोक्ताओं के सक्रिय सहयोग के बिना शासन-तंत्र के राजनियुक्त प्रशासक सुगमता के साथ शासन-संचालन नहीं कर सकते थे । द्वितीय एवं तृतीय शताब्दी ईस्वी के आभिलेखिक साक्ष्य यह स्पष्ट कर देते हैं कि इस अवधि में ऐसे अनेक स्थानीय शासकों की सत्ता स्थापित हो चुकी थी, जिनकी पारम्परिक आचार-संहिताएँ थीं, जिनमें लोकतांत्रिक पद्धति को वरीयता दी गई थी, जो राजतंत्र के नियामक उन तत्वों से अप्रभावित थे, जो भारत में प्रवेश करने

वाली विदेशी जातियाँ, विशेषतया कुषाणों द्वारा लाई गई थीं । आलोचित कालावधि में, विदेशियों के संक्रमण एवं आक्रमण के परिणाम में ग्राम्य-परक आभिजात्य का उदय विशेषतया उल्लेखनीय है । तत्कालीन एक अभिलेख में ग्रामिक शब्द सन्दर्भित है । यद्यपि सामान्यतया इस शब्द का अर्थ ग्राम-प्रधान ही माना गया है, तथापि ऐसे सुझाव को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती है कि तत्कालीन परिवेश में विदेशी आक्रमणों के कारण जब कि राजनीतिक विघटन एवं विसन्तुलन की प्रवृत्तियाँ काफी प्रभावक बन बैठी थीं, ग्राम-प्रधान केवल ग्राम का मुखिया ही नहीं था, अपितु वह ग्राम का अधिपति भी हो चुका था । लगभग प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के ब्राह्मी के अभिलेख गाम-सामिक (संस्कृत ग्राम-स्वामी) शब्द सन्दर्भित करते हैं । इस मत को मानने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती है सामि अथवा स्वामी शब्द को मुरुण्ड शब्द का समानार्थक माना जा सकता है, जो मूलतः हिन्द-सीथियन शब्द था, जिसका अर्थ स्वामी अथवा अधिपति माना जाता था । इस सन्दर्भ में अधिक जानकारी वर्ष 303 को प्रसंगित करने वाले पेशावर से उपलब्ध एक (खरोष्ठी) अभिलेख से मिलती है जिसमें वर्णित महाराजस्य का तात्पर्य सम्बन्धित कुषाण-शासक एवं ग्रामस्वामिनः का तात्पर्य कुषाण शासक के क्षत्रप (प्रान्तपति) से माना जाता है । ऐसी स्थिति में सामान्य निष्कर्ष यही निकलता है कि आलोचित कालावधि की सामाजिक संरचना में वैदेशिक आक्रमण एवं संक्रमण में एक नवीन वर्ग का उदय हुआ जिसे आधुनिक शब्दावली में "लैण्डेड एरिस्टोक्रेसी" की संज्ञा प्रदान की जा सकती है ।

इस मत की आदरणीयता को स्वीकार करने में कठिनाई प्रतीत होती है कि यूनानी, पार्थियन, शक एवं कुषाणों के पद-प्रक्षेप एवं प्रवेश के कारण भारतीय समाज की मौलिक संरचना पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था। पौराणिक पंक्तियों के परिशीलन से सुव्यक्त हो जाता है कि पतनशील नैतिक आचरण वाले विदेशी आक्रान्ताओं का भारतीयों की आचरणशीलता पर दुष्प्रभाव पड़ा था। ऐसे सुझाव में तर्क और संगति दिखाई देती है कि आलोचित कालावधि के व्यापारियों एवं अन्य समृद्धिशाली एवं प्रभावशाली लोगों के ऐश्वर्य एवं समृद्धि का अनुमान प्रचुर संख्या में मिलने वाले दान-दान-क्रिया के संज्ञापक अभिलेखों के द्वारा लगाया जा सकता है, तथा यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि यही वर्ग अपनी सम्पत्ति का उपयोग मानव-सुलभ सहज प्रकृति की प्रेरक शुचिता-च्युत सन्दर्भ में लगा रहा होगा। वस्तुतः इसमें सन्देह नहीं है कि आलोचित कालावधि में विदेशी जातियों के आक्रामक एवं संक्रामक गतिविधियों के कारण भारतीय समाज की पारम्परिक मान्यताओं में विपर्यास की स्थिति आ रही थी। बहिरंग साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि आलोचित कालावधि में बख्त्री समाज का घोर नैतिक पतन हो चुका था, जिसका कुप्रभाव बख्त्री आक्रान्ताओं की लपेट में आने वाले भारतीय समाज पर पड़ना सहज था।

आलोचित कालावधि के अभिलेखों के परिशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि इस अवधि में ब्राह्मणेतर परम्परा अपेक्षाकृत अधिक उन्नमित थी, तथापि अतीतकालीन वैदिक परम्परा के अवान्तरकालीन प्रतिनिधान

का अग्रणी ब्राह्मण धर्म का गौरव धूमिल नहीं हुआ था । ब्राह्मेतर विशेष-तया बौद्ध धर्म की भाँति इसके व्यापनशील प्रचार के प्रमाण भले ही न मिलें, किन्तु इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि समाज में इसकी मुखरता के सन्निरोधक तत्त्व प्रोत्साहन की स्थिति में नहीं थे । ध्यातव्य है कि आलोचित कालावधि में ब्राह्मण एवं ब्राह्मेतर परम्परा के सह-अस्तित्व के प्रमापक अभिलेख मथुरा एवं कौशाम्बी, दोनों ही केन्द्रों से उपलब्ध हुये हैं । मथुरा से उपलब्ध कम-से-कम दो ऐसे अभिलेख सन्निदर्शित किये जा सकते हैं,±, जिन्हें आपाततः ब्राह्मेतर परम्परा के प्रचलन एवं तद्युगीन लोकप्रियता का प्रमाण माना जा सकता है किन्तु तत्त्वतः इनसे प्रतिभासित होता है कि ब्राह्मण परम्परा का अतीतकालीन गौरव अन्तर्निहित नहीं हुआ था, तथा धर्मान्तर में दीक्षित होने के उपरान्त भी धर्मान्तरित व्यक्ति ब्राह्म धर्म से अपना मौलिक सम्बन्ध बनाये रखने में गौरव का अनुभव करते थे । समान अवधारणा के संज्ञापक अभिलेख कौशाम्बी से भी उपलब्ध हुये हैं । सामान्यतया कौशाम्बी के जिन अभिलेखों को प्रायः शोध का आधार बनाया गया है, वे घोषिताराम विहार के उत्खनन से उपलब्ध हुये हैं । अतएव इनसे बौद्ध परम्परा के ही संकेतक तत्त्व मिलते हैं । किन्तु इसी केन्द्र से ऐसे भी अभि-लेख भी मिले हैं, जिनका सम्बन्ध धरातलशोध से है । इन अभिलेखों की अन्तः समीक्षा से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि कौशाम्बी में आपाततः ब्राह्मेतर परम्परा के तत्त्व अपनी ताना-बाना को विस्तार में ला रहे थे, किन्तु तत्त्वतः कौशाम्बी से ब्राह्मण परम्परा का तिरोभाव नहीं हुआ था । यद्यपि

इस कोटि के अभिलेखों की संख्या अधिक नहीं हैं तथापि ऐसी सम्भावना बलवती दिखाई देती है कि शैर्षिक-मिश्रित क्षैतिज उत्खनन के परिणाम में यह संख्या बढ़ भी सकती है, तथा सर्वांगीण स्थिति का मूल्यांकन सुकर भी हो सकता है ।

आलोचित कालावधि से सम्बन्धित मथुरा एवं कौशाम्बी, दोनों ही केन्द्रों से उपलब्ध अभिलेखों के आधार पर सामाजिक दशा के अंकनार्थ कुछ-एक पक्षों का सम्यक् विवेचन हो जाता है । उदाहरण के लिये वैश्यों को प्रसंगित किया जा सकता है । उपलब्ध अभिलेख यह सुव्यक्त कर देते हैं कि तद्युगीन सामाजिक परिवेश में वैश्यों का स्तर परम्परा-सम्मत स्थिति की अपेक्षा अधिक उन्नमित हो चुका था, तथा उनके आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकार अपेक्षाकृत अधिक उन्नमित हो चुके थे, जिसकी पृष्ठभूमि में उनकी समृद्धिशालीता क्रियाशील थी । अभिलेखांकनों के द्वारा कुछ-एक सामाजिक अवधारणा से सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर मिल जाते हैं । आलोचित काला-वधि से सम्बन्धित समाज के अनुसन्धाताओं ने प्राय: यह प्रश्न उठाया है कि शिल्पी का व्यवसाय वैश्य भी अपना सकते थे अथवा यह व्यवसाय केवल शूद्रों के लिये ही सुरक्षित था । सम्बन्धित अभिलेखों की समीक्षा से यही स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि परम्परा के अनुसार शिल्पी का व्यवसाय शूद्र ही अपनाते थे, तथापि वैश्य शिल्पियों के उदाहरण भी इन अभिलेखों में मिल जाते हैं । सम्बन्धित अभिलेख यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि शूद्र-शिल्पियों

का सामाजिक स्तर अपेक्षाकृत उन्नमित हो चुका था । इनकी समृद्धि में अपेक्षाकृत बढ़ोत्तरी हो चुकी थी । काष्ठकोय-विहार, प्रावरिक-विहार, सौवर्णिक-विहार-जैसे बौद्ध विहार इन्ही की दान-क्रिया की प्रसूति थे, जिनके आधार पर इनके उन्नमित सामाजिक स्तर का मूल्यांकन किया जा सकता है ।

आलोचित कालावधि के अभिलेख सामाजिक अनुशीलन के अन्य महत्त्वपूर्ण पक्षों को भी समुद्घाटित कर देते हैं । इनके विवरणों के आधार पर पारिवारिक नयाचार का मूल्यांकन किया जा सकता है । सामान्यतया पारिवारिक सदस्यों का आनुक्रमिक गठन-क्रम निम्नोक्त होता था, उस स्थिति में जब कि दानकर्त्ता कोई स्त्री होती थी: स्त्री का श्वसुर, उसका पिता, उसका पति तथा उसके पुत्र । इन अभिलेखों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पारिवारिक नियमन की सत्ता माता में केन्द्रित होती थी, तथा उसका स्थान पिता की अपेक्षा अधिक उन्नमित माना जाता था । इनमें स्त्रियों की कर्तव्य-गुरुता के संज्ञापक तत्त्व भी मिलते हैं । कुटुंबिनी, सहचरी, भार्या, तथा धर्मपत्नी जैसे शब्द उसके व्यक्तित्व के महत्त्वपूर्ण पक्षों को उद्घाटित करते हैं । प्रतीत होता है कि स्त्री (माता) में दैवी प्रतिष्ठा मानी जाती थी । उक्त आशय के संज्ञापक सबसे महत्त्वपूर्ण-साक्ष्य मथुरा की वह नारी प्रतिमा है जिस पर तोषाये ~~प्रतिमा~~ शब्द उट्टंकित हैं । आलोचित अभिलेखों

में सामान्यतया पारम्परिक विवाह-प्रथा के ही संकेतक साक्ष्य उपलब्ध होते है। किन्तु कभी-कभी अभिलेखांकनों में निहित अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो पाता है। इसी कोटि का एक अभिलेख मथुरा से प्राप्त हुआ था, जिसमें किसी "मणिकार" की पुत्री को किसी "लोहवाणिय" की पुत्रवधू घोषित किया गया है। इस सन्दर्भ में ऐसा निष्कर्ष निकाला गया है कि उक्त साक्ष्य से अन्तर्जातीय विवाह की सूचना मिलती है। ऐसा भी निष्कर्ष निकाला गया है कि आभिलेखिक प्रसंग में जाति एक ही है, किन्तु व्यवसाय भिन्न है। अतएव इसे अन्तर्जातीय विवाह का संज्ञापक साक्ष्य नहीं मान सकते हैं।

तत्कालीन शिक्षा-पद्धति के संज्ञापक जो अभिलेख मिले हैं, उनसे अधिकांशत: यही ज्ञात होता है कि शिक्षा के प्रतिष्ठित केन्द्र बौद्ध विहार माने जाते थे, जिनमें आचार्य एवं अन्तेवासी सामूहिक एवं अनुशासित जीवन व्यतीत करते थे। त्रिपिटक-साहित्य में पारंगत होना गौरव का विषय माना जाता था। अभिलेखों में "मितिक विहारिक" एवं "सद्धेविहारिक" जैसे शब्द अन्तेवासियों में परस्पर स्नेहिल सम्बन्ध एवं बन्धुत्व की भावना को स्पष्ट करते हैं। इसके अतिरिक्त "सहा अन्तेवासिकेहि" एवं "सहा अन्तेवासिनिहि" जैसे शब्द सह-शिक्षा पद्धति पर प्रकाश डालते हैं। सम्प्रदाय-विशिष्ट आचार्यों, विशेषतया समितीय एवं धर्मगुप्तक (बौद्ध) सम्प्रदायों के आचार्यों का पृथक्श: उल्लेख प्राप्त होता है।

आलोचित काल के अभिलेख मनोविनोद के तत्कालीन साधनों को सन्दर्भित करते हैं । बहुधा इनमें चंक्रम शब्द मिलता है, जो विहारों के खुले भाग में व्यायाम के हेतु बना रहता था । इस प्रसंग में अभिलेखोक्त वाक्य "कौशाम्बीकुटी विहारालिन्द" महत्त्वपूर्ण है । अभिलेखोक्त शैलालक शब्द की व्याख्या भरत के नाट्य-शास्त्र के आलोक में की जा सकती है जिसके अनुसार इन्हें प्रेक्षा-गृह का अभिनेता माना गया है । अभिलेखांकित " "रंङ्गानर्तन" तत्कालीन मनोविनोद का एक अन्य महत्त्वपूर्ण साधन था, जिसका अर्थ सामान्यतया प्रेक्षा-गृह का नर्त्तक माना गया है । कुछ-एक ने इसे ललितविस्तर में वर्णित रङ्गमण्डल शब्द का समस्तरीय माना है, जहाँ मल्लयुद्ध आयोजित किया जाता था ।

तत्कालीन अन्न-पान का संज्ञापक अभी तक के शोधों से केवल एक अभिलेख प्राप्त हो सका है-हुविष्क कालीन संवत् 28 का मथुरा का प्रस्तर-खण्ड अभिलेख। इसमें साधसक्त (स्वादिष्ट सत्तू), लवण, शक्त (आँटा), हरितकलापक (हरी सब्जी)। इन खाद्य पदार्थों को अभिलेख में "अनाथानांकृते" अर्थात् अनाथों (निर्धनों) का भोज्य-उपकरण बताया गया है । सामान्य एवं समृद्धिशाली लोगों के भोजन को संज्ञापित करने वाला अभी तक कोई अभिलेख नहीं प्राप्त हुआ है ।

आलोचित कालावधि के अभिलेखों में आर्थिक तत्त्व

आलोचित कालावधि के ब्राह्मी अभिलेखों से यह अभिव्यक्त हो जाता है कि व्यापारी अथवा सामान्य यात्री अथवा राजकर्मचारी प्राय: भारतेतर देशों से प्राय: भारतीय नगरों एवं व्यापारिक केन्द्रों से सम्पर्क हेतु अथवा धार्मिक परिवेश के दर्शनार्थ आया करते थे । अभिलेखांकनों में अनेकश: एवं अनेकधा "वकनपति" अथवा "बकनपति" शब्द प्राप्त होता है, विशेषक शब्द के रूप में-तथा विशेषित व्यक्ति को भारत में आने वाले यात्री के रूप में सम्बोधित किया गया है । यद्यपि विद्वानों ने वकन शब्द को भिन्न-भिन्न अर्थों में ग्रहण किया है, तथापि इसे स्थान-वाचक शब्द मानने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती है । इसे मध्य एशिया में स्थित वेखन नामक स्थान से समीकृत किया गया है । इससे भारत और मध्य एशिया के परस्पर व्यापारिक सम्पर्क की सम्भावना सुव्यक्त हो जाती है । अफगानिस्तान में स्थित वेग्राम से ऐसे अनेक अस्थि-निर्मित एवं हाथी-दाँत से बने उपकरण मिल चुके हैं, जो भारत से निर्यात प्रतीत होते हैं । कौशाम्बी के अनेक मृद्भाण्डों में यायावर जातियों के शिल्प-कला की झलक मिलती है । इन पुरातात्त्विक उपकरणों से पुराभिलेखिक सूचना सत्यापित हो जाती है कि आलोचित कालावधि ने भारत और मध्य एशिया के परस्पर व्यापारिक सम्पर्क का अनुभव किया था ।

अभिलेखांकित शब्द, वाक्य अथवा वाक्यांश नगरों तथा ग्रामों में विकसित उद्योग-धन्धों के प्रमापक साक्ष्य माने जा सकते हैं । गान्धिक, सुवर्णकार, शैलालक एवं प्रावारिक जैसे शब्द नगरों में विकसित व्यवसायों एवं

व्यवसायियों की वर्ग-गत विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं । दूसरी ओर लोहकारूक, लोहिकाकारूक, लोहिकारक, लोहवाणिय जैसे शब्द कृषि-कार्य को उत्साहित करने वाले तत्कालीन ग्रामीण उद्योग-धन्धों पर प्रकाश डालते हैं । इन शिल्पियों के कला-विषयक उत्कर्ष एवं परिणामभूत इनकी समृद्धि का मूल्यांकन उन अभिलेखांकनों के द्वारा हो जाता है, जो इनके प्रचुर एवं प्रभूत अनुदानों पर प्रकाश डालते हैं ।

अभिलेखांकनों में बुनकरों एवं रंगसाजों का सन्दर्भ तत्कालीन आर्थिक दशा के अनुशीलनार्थ उपयोगी है । आलोचित कालावधि से ही सम्बन्धित वह अभिलेखांकित नाग-देवता की प्रतिमा है, जिसकी पीठिका पर माथुरस्य नियवडिकस पाठ मिलता है, जो इस निष्कर्ष का संज्ञापक है कि काष्ठकला मथुरा जैसे नगरों में समृद्ध अवस्था को प्राप्त था ।

श्रेणी एवं गोष्ठी शब्दों को सन्दर्भित करने वाले तत्कालीन अभिलेख अतीव महत्त्वपूर्ण हैं, जो अक्षयनीवि एवं पुराण (मुद्रा) जैसे शब्दों को सन्दर्भित करते हैं, जिनसे यह सुव्यक्त हो जाता है कि आलोचित कालावधि में श्रेणियाँ आधुनिक सहकारियों सदृश कार्य सम्पन्न करती थीं । अभिलेखांकनों में गोट्ठिक (संस्कृत गौष्ठिक) शब्द मिलता है, जिसके शिल्पी सदस्य भी सन्दर्भित हुये हैं । अभिलेखांकित दोनों शब्दों की व्याख्या से यह सुव्यक्त हो जाता है कि यदि श्रेणी सहकारी बैंक की समस्तरीय थी, तो इसी सम्बन्धित गोष्ठी को आधुनिक ट्रस्टी का समस्तरीय मान सकते हैं अथवा जिसे प्रबन्ध-समिति की कोटि में रखा जा सकता है ।

वाणिज्य एवं व्यापार के सुचारु संचालनार्थ मुद्राओं को स्वभावत: प्रयोग में लाया जाता था । इस आशय का संज्ञापक सबसे महत्वपूर्ण अभिलेख हुविष्क के वर्ष 28 को सन्दर्भित करने वाला अभिलेख है । इसमें किसी वकनपति के द्वारा पुण्यशाला में अक्षयनीवि के रूप में पुराण नामक मुद्राओं को निक्षेपित किये जाने का प्रसंग प्राप्त होता है । सन्दर्भित पुराण नामक मुद्राओं का समीकरण उन आहत मुद्राओं के साथ किया जाता है, जिनकी तौल का आदर्श 32 रत्ती अर्थात् 58·56 ग्रेन माना जाता था। पुराण मुद्राका सन्दर्भ मनुस्मृति एवं विष्णुस्मृति में भी प्राप्त होता है । दोनों ही स्मृतियों में पुराण एवं धरण नामक मुद्राओं को समस्तरीय घोषित करते हुये इनकी तौल 32 रत्ती मानी गई है । साक्ष्य-समर्थित तर्कों के आधार पर पुराण को कार्षापण के साथ समीकृत किया गया है । यह कह सकते हैं कि आलोचित कालावधि में एक ही मुद्रा को पुराण, धरण एव कार्षापण शब्दों के द्वारा संज्ञापित किया जाता था । कौशाम्बी से उपलब्ध मुद्राओं के अभिलेखांकनों में "गधिकानं" शब्द प्राप्त होता है, जो इस बात का द्योतक है कि व्यापारियों का संघ अपनी मुद्राओं को चला सकता था । ऐसी स्थिति में यह निरापद है कि आलोचित कालावधि ने व्यापारिक उन्नयन का सम्यक् अनुभव किया था ।

उक्त अभिलेखिक साक्ष्य तत्कालीन आर्थिक समृद्धि को सुव्यक्त करने वाले अभिलेखेतर साक्ष्यों की सूचनाओं को समर्थित करते हैं । तत्कालीन भारतीय आर्थिक समृद्धि पर प्रकाश डालते हुये प्लिनी ने विवृत किया है कि

भारत बहुमूल्य रत्नों का स्रोत माना जाता था, जिनका बहुश: निर्यात रोम में होता था । मौद्रिक साक्ष्य यह स्पष्ट कर देते हैं कि लगभग 30 ईसा पूर्व से लेकर लगभग 550 ईस्वी तक भारत एवं रोम में वाणिज्य-परक जीवन्त स्थिति में था । ऐसे साक्ष्य भी उद्घाटित हो चुके हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर भारत आलोचित कालावधि में उस भारतेतर पश्चिमोत्तर भाग से सम्बन्धित था, जिसे रेशम-मार्ग की संज्ञा दी जाती है, तथा जो भारत, चीन और रोम के रेशम-व्यापार को नियमित करता था । बौद्ध साहित्य के अनुशीलन से यह भी सुव्यक्त हो जाता है कि आलोचित कालावधि में वाराणसी को रेशम-व्यापार का प्रमुख केन्द्र माना जाता था । यहाँ व्यापारियों का कारवाँ उत्तर पश्चिमी भारत के मार्ग पर बराबर व्यस्त रहता था । ईस्वी संवत् के प्रारम्भिक स्तरों पर विरचित बौद्ध ग्रन्थ मिलिन्दपञ्ह से सूचना मिलती है कि तत्कालीन भारत का वह भाग जिसे निम्न सैन्धव क्षेत्र की संज्ञा दी जाती है, व्यापार की दृष्टि से बाहरी देशों से सम्बन्धित था । मिलिन्द पञ्ह के अतिरिक्त यही सूचना पेरिप्लस के विवरण से भी मिलती है । यह व्यक्ति यूनान का नागरिक था, तथा मिस्र में रहा करता था । जिस समय रोम का व्यापार अपने चरमोत्कर्ष पर था, यह अज्ञात लेखक भारत-रोम के व्यापार में सक्रिय हिस्सा ले रहा था । मथुरा के उत्खनन-परक साक्ष्य ऐसी सम्भावना को समर्थित कर देते है कि आलोचित कालावधि में उत्तर एवं उत्तर-पश्चिमी भारत में नगरीकरण का पर्याप्त विकास हुआ था । इसके प्रमापक साक्ष्य भारतेतर देशों से भी प्राप्त हुये हैं, जिनमें अफगानिस्तान ईरान, तथा सोवियत मध्य

एशिया को सम्मिलित किया जा सकता है । आलोचित कालावधि के आर्थिक पहलू पर मुद्रा-नीति में संशोधन का भी प्रभावपड़ा था । सुविदित साक्ष्य यह सिद्ध कर देते हैं कि कुषाण-नरेशों ने व्यापक स्तर पर सुवर्ण-सिक्कों को चलाया था । ऐसी सम्भावना को स्वीकार करने में कोई भी आपत्ति नहीं दिखाई देती है कि कुषाणों ने रोमन मुद्राओं की अनुकृति में वैदेशिक व्यापार को सुदृढ़ करने की दृष्टि से चलाया था । सम्भवतः आलोचित कालावधि में ही मानसून की खोज हुई थी, जिसके परिणाम में भारत एवं भूमध्यसागरीय देश परस्पर व्यापारिक सन्निकर्ष में आ सके थे ।

आलोचित कालावधि के अभिलेखों में धार्मिक तत्त्व

मथुरा एवं कौशाम्बी से उपलब्ध अभिलेखित आयागपट्ट के अभिलेख इस आशय को स्पष्ट कर देते हैं कि बौद्ध धर्म काफी विकास की पराकाष्ठा को प्राप्त हो रहा था। इसके व्यापक परिवार में विदेशी जातियाँ, विशेषतया शकों का समाहार हो रहा था। बौद्ध धर्म की सुप्रसिद्ध शाखाएँ सर्वास्तिवाद, महासंघिक, सम्मतीय, धर्मगुप्तक की प्रतिष्ठापना हो चुकी थी। सम्बन्धित अभिलेख बोधिसत्त्व की प्रतिमाओं के दान एवं प्रतिष्ठापना को प्रसंगित करते हैं, जो वस्तुतः सर्वास्तिवादी एवं बौद्ध आचार्यों की क्रिया-कलाप का परिणाम था। अभिलेखांकितों में आजानिक-विहार, चूतक-विहार, काष्ठकीय-विहार, घोषितारास एवं पावरिकाराम जैसे बौद्ध विहार सन्दर्भित हुये हैं, जो बौद्ध धर्म की गतिशीलता के परिचायक हैं। अभि-लेखोक्त देवपुत्र-विहार प्रावारिक-विहार तथा सौवर्णिक-विहार राज्य-संरक्षित अथवा व्यापारियों के संघों द्वारा संरक्षित थे। इन विहारों में स्थानीय दान-कर्त्ताओं के अतिरिक्त वैदेशिक दानकर्त्ताओं की दान-क्रिया का प्रसंग प्राप्त होता है।

अभिलेखित अभिलेखों का अनुशीलन जैन धर्म की समुन्नत अवस्था पर पर प्रकाश डालता है। जैन धर्म के परिवार में गृहस्थ, भिक्षु एवं भिक्षुणी सम्मिलित थे। इनमें चतुर्पणि-संघ (चतुर्वर्ण-संघ) की चर्चा मिलती है, जिसके सदस्य भिक्षु, भिक्षुणी, श्रावक बन्धु एवं श्राविका भगिनी हुआ करते थे। भिक्षु-भिक्षुणियों के विभिन्न वर्ग अभिलेखांकित हुये हैं, जिन्हें कुल, गण, शाखा सम्भोग जैसे शब्दों से परिभाषित किया जाता था। अभिलेखांकनों में

महावीर के अतिरिक्त सम्भवनाथ, शान्तिनाथ, अरिष्टनेमि, एवं पार्श्वनाथ सदृश तीर्थंकरों की उपासना के संकेतक साक्ष्य निरूपित किये जा सकते हैं। इन्हें "नमोअरहन्तानं", "नमोस्त्वर्हद्भ्य:", "नमो अर्हतोवर्धमानस", "नमो अर्हतो महावीरस" जैसे वाक्यों से सम्मानित किया जाता था, जो जैन परम्परा में सुप्रतिष्ठित हो चुके थे तथा जिनकी अभिव्यंजना के अनुसार जैन तीर्थंकरों को देवातिरेक स्थान मिला था। "आयागपट" एवं आयाग-शिला" जैसी पारिभाषिक जैन शिलाएँ, जो तीर्थंकरों की उपासना की माध्यमभूत थीं, अभिलेखांकित मिलती है। अधिक महत्त्वपूर्ण अभिलेखांकन नैगमेष की उपासना है, जो साहित्य-सन्दर्भित नैगमेष-आख्यान का समर्थक ठोस साक्ष्य है।

भागवत-धर्म के प्रचलन के प्रमापक साक्ष्य प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व से ही मिलने लगते हैं। मथुरा में स्थित मोरा के दो अभिलेख महत्त्वपूर्ण हैं इनमें एक अभिलेख में भागवत धर्म के वृष्णि पंचवीरों के सम्मानार्थ उनकी प्रतिमा प्रतिष्ठापना समर्थित है, तथा दूसरा अभिलेख भगवान वासुदेव के सम्मानार्थ देवकुल, तोरण एवं वेदिका का निर्माण प्रसंगित करता है। कालोचित अभिलेख शैव धर्म के अस्तित्व एवं लोकप्रियता को भी स्पष्ट कर देते हैं। इसके अतिरिक्त अश्वमेध यज्ञ को सन्दर्भित करने वाले अभिलेख भी मिल चुके हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोचित कालावधि में ब्राह्मणपरम्परा एवं ब्राह्मणेतर परम्परा बिना किसी परस्पर विरोध के गतिमान्द्य नहीं हुये थे।

अभिलेखांकनों में लोकधर्म के सन्निबोधक नाग-उपासक यक्ष पूजा तथा मातृ-उपासना अनेकधा सन्दर्भित हुये हैं। अभिलेखीय विवरण समकालीन साहित्य एवं प्रतिमा-परक साक्ष्यों के सन्निकर्ष में है। इस अवधारणा की पृष्ठभूमि में वह बद्धमूल परम्परा क्रियाशील थी, जिसके अनुसार नागों को जलाशय का अधिष्ठातृ देवता माना जाता था। यक्ष-उपासना के सन्दर्भ में जो विशेष तथ्य अभिलेखांकनों द्वारा प्रतिभासित होता है, वह है कि कभी कभी शक्ति-समुत्कर्ष अथवा महनीयता के कारण मानव को यक्षों की कोटि में रखा जाता था, तथा उपासनार्थ उन्हें मान्यता प्रदान की जाती थी। अभिलेखांकनों में ग्राम-देवी के प्रसादार्थ अनेकश: आलोचनानुकूल प्रसंग प्राप्त होते हैं, जिनसे ऐसा सुव्यक्त हो जाता है कि प्राय: ग्राम-देवी को ग्राम-संरक्षिका की मान्यता दी जाती थी।

आलोचित कालावधि के कुषाण-स्तर पर सम्राट उपासना को संज्ञापित करने वाले अभिलेख भी प्राप्त हो चुके हैं। इस आशय के दो अभिलेख महत्त्व-पूर्ण माने जाते हैं। इनमें पहला अभिलेख एक शासकोचित प्रतिमा पर अंकित है, तथा अभिलेखांकित वाक्य इसे कनिष्क (प्रथम) को संज्ञापित करता है। यह अभिलेख मथुरा में स्थित टोकरी-टीला नामक स्थान से उपलब्ध हुआ था। दूसरा अभिलेख भी टोकरी-टीला से ही प्राप्त हुआ था। इसे एक शासकोचित प्रतिमा पर उद्टंकित किया गया है, जिसका अभिलेखांकित वाक्य हुविष्क के पितामह अर्थात् विम काडफिसीज़ को घोषित करता है। इन अभिलेखांकित एवं अभिलेख-विहीन प्रतिमाओं की ऐतिहासिक समीक्षा विद्वानों ने अलग-अलग ढंग से किया है। अधिक आदरणीय एवं ग्राह्य वह मान्यता है, जिसके अनुसार

ये अभिलेखिक एवं प्रतिमा-परक साक्ष्य इस तथ्य के संज्ञापक हैं कि कुषाण-काल में देवकुल एक ऐसे धार्मिक भवन के रूप में ग्रहण किया जाता था, जिसमें सम्मानार्थ एवं उपासनार्थ शासक-प्रतिकृतियाँ प्रतिष्ठापित की जाती थीं। प्राचीन भारत के लिये यह एक अपरिचित धार्मिक अवधारणा थी। इसे कुषाणों की देन मान सकते हैं। धार्मिक स्तर पर इसे मृत-शासक की उपासना के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

आलोचित कालावधि से सम्बन्धित ऐसे अभिलेखिक साक्ष्य भी उपलब्ध हो चुके हैं, जो राजेतर किन्तु उच्चस्तरीय व्यक्ति के दैवीकरण एवं प्रतिमा-प्रतिकृति के माध्यम से उपास्य होने की सम्भावना को सुव्यक्त कर देते हैं। इस कोटि की एक अभिलेखांकित प्रतिमा मथुरा के गणेश्रा नामक स्थान से प्राप्त हो चुकी है। अभिलेखांकित वाक्य यह स्पष्ट कर देता है कि सम्बन्धित प्रतिमा महादण्डनायक उलान की है। दूसरा अभिलेख भी मथुरा से ही मिला था। यद्यपि अक्षर "र्ण" को छोड़कर अभिलेख का शेषांश सुरक्षित नहीं है जिससे सम्बन्धित व्यक्ति के नाम का पता चल सके, तथापि वाक्य का वह अंश सुरक्षित है। जिसमें इसके देवकुल में प्रतिष्ठापित होने का प्रसंग मिलता है। सम्भवतः अभीष्ट व्यक्ति भी उलान की ही भाँति कोई उच्च-स्तरीय ही था। ये दोनों ही विदेशी (शक) प्रतीत होते हैं; जो कुषाण शासन से सम्बन्धित थे। इसी कोटि का तीसरा अभिलेख एक नारी-प्रतिमा की पीठिका पर अंकित है। यह अभिलेख भी मथुरा (में स्थित मोरा नामक स्थान) से प्राप्त हुआ था। अभिलेखांकित वाक्य सम्बन्धित प्रतिमा को तोषा नामक स्त्री का द्योतक घोषित करता है। यह अभिलेख

कनिष्क प्रथम के काल से सम्बन्धित है । मथुरा में स्थित इसी मोरा नामक स्थान से प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के एक अभिलेखांकित वाक्य के अनुसार तोषा के लिये एक गृह (मन्दिर) का निर्माण कराया गया था । अतएव ऐसी सम्भावना की जाती है कि जिस प्रकार काडफिसीज़ के मरणोपरान्त उसकी प्रतिमा को देवकुल में प्रतिष्ठापित किया गया था, वैसे ही तोषा की प्रतिमा को उसके मरणोपरान्त लगभग एक शतक बाद उसकी प्रतिमा की प्रतिष्ठापना की गई थी । आलोचित काल में इस अभिलेखांकित प्रतिमा को तत्कालीन धार्मिक अवधारणा का सन्निबोधक एक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य माना जा सकता है ।

आलोचित कालावधि के अभिलेखों की लिपि-विषयक विशेषताएँ

आलोचित कालावधि से सम्बन्धित कौशाम्बी एवं मथुरा से जितने अभिलेख उपलब्ध हुये हैं, उनमें प्रायः शक लिपिकरों अथवा दानकर्ताओं के नाम प्राप्त होते हैं। ब्राह्मी की शिल्प-विधि के निर्मापन में इन लिपकरों का महत्त्वपूर्ण योगदान माना जा सकता है। कौशाम्बी के घोषितारामविहार से उपलब्ध धर्मचक्र प्रस्तर फलक अभिलेख तथा बौद्ध आयाग-पट्ट अभिलेख इसके प्रसंग-सापेक्ष उदाहरण हैं। धर्मचक्र अभिलेख में जिस शक नियक का प्रसंग है, उसी का सन्दर्भ पश्चिमी क्षेत्रों से उपलब्ध अभिलेखों में मिलता है। बौद्ध आयागपट्ट अभिलेख जिस भिक्षु फगल को सन्दर्भित करता है, उसी का प्रसंग अहिच्छत्रा के एक अभिलेख में प्राप्त होता है। अतएव ऐसी स्थिति में यह कह सकते हैं कि यदि विभिन्न क्षेत्रों के अभिलेखों में एक ही लिपिकर का नाम प्राप्त होता है, तो परिणामतः तत्कालीन ब्राह्मी की शिल्पविधि के निर्मापन में इनका योगदान तो रहा ही होगा, इसके अतिरिक्त इसका प्रभाव लिपि-विषयक एकता पर भी पड़ा होगा, तथा ऐसे परिवेश की सघनता के कारण क्षेत्रीय वैषम्य अथवा क्षेत्रीय शाखाओं के उभाड़ के लिये लवलेश अवकाश नहीं रहा होगा। कौशाम्बी-आयागपट्ट अभिलेख एवं शोडास कालीन (वर्ष 72) मथुरा के प्रस्तर अभिलेख में लिपि विषयक इतनी सघन समता है कि दोनों ही एक ही लिपिकर की लेखिनी प्रसूति का आभास देने लगते हैं। कीलशीर्षक , घोष एवं पुजाये इसके कुछ-एक ठोस प्रमाण माने जा सकते हैं।

कौशाम्बी एवं मथुरा में इन शक-शिल्पियों की क्रियाशीलता अधिक

घनीभूत प्रतीत होती है । दोनों ही केन्द्रों से अभिलेख भी प्राप्त हो चुके हैं, जिन पर कभी-कभी केवल शक शिल्पियों के नाम ही उद्टंकित हुये हैं। जवण (कौशाम्बी), लवण (मथुरा), षष्टन (मथुरा) शब्दों को उद्टंकित करने वाले पाषाण खण्ड उक्त आशय के द्योतक कतिपय महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं । प्रथम शताब्दी ईसापूर्व के अतिरिक्त द्वितीय एवं तृतीय शताब्दी ईस्वी के अभिलेखों में इसी प्रवृत्ति के सन्निदर्शक साक्ष्य उपलब्ध हुये हैं । उल्लेखनीय अभिलेख हैं: खण्डित बौद्धप्रतिमा पर अंकित खण्डित अभिलेख (कौशाम्बी), खण्डित प्रस्तर-खण्ड पर खण्डित अभिलेख (कौशाम्बी), भद्रमघ-कालीन (संवत् 83) बोधिसत्त्व प्रतिमा अभिलेख (कौशाम्बी) । इनमें शक दान-कर्त्ताओं के नाम मिलते हैं । इन अभिलेखांकनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि गंगा की घाटी, विशेषतया कौशाम्बी एवं मथुरा के क्षेत्रों में ब्राह्मी की जो शिल्प-विधि तैयार हुई थी, उसमें शकों का विशेष योगदान था । इसके फलस्वरूप सम्बन्धित अभिलेखों में लिपि-विषयक एकता की प्रवृत्ति दिखाई देती है ।

आपाततः इस मत को मानने में कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती है कि उत्तर भारत में प्रथम शताब्दी ईस्वी एक ऐसा स्तर है जब कि ब्राह्मी के गठन का निर्धारण लेखन-विषयक द्रुतगामिता एवं उन्नमन-वैषम्य प्रवृत्ति के परिणाम में हुआ था । ऐसे सुझाव को स्वीकार करने के पूर्व सतर्कता की आवश्यकता प्रतीत होती है कि मथुरा में अपनी क्रिया-कलाप को सम्पन्न करने वाले शक-क्षत्रपों की "पेन स्टाइल" का तत्कालीन

ब्राह्मी के शिल्प-विधि पर प्रभाव पड़ा था अथवा तत्कालीन लेखन-विषयक उत्क्रान्ति में मथुरा ने ही पहल किया था । इसमें सन्देह नहीं कि आलोचित कालावधि में उत्तर भारत में लेखन-क्रिया काफी प्रखर एवं घनीभूत थी, किन्तु यह सुझाव सर्वांशत: स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि इस लेखन - प्रकर्षता में शक-क्षत्रपों के "पेन -स्टाइल" का ही योगदान था । कौशाम्बी और मथुरा के अभिलेखों की लिपि आसन्न अनुरूपता अथवा कौशाम्बी के भिक्षु फगल का नाम अहिच्छत्रा के तत्कालीन अभिलेख में उपलब्ध होना, ऐसे विन्दु हैं जिनके कारण मथुरा के शकों को तत्कालीन लिपि की शिल्प-विधि का उन्नायक मानने में कठिनाई प्रतीत होती है । ऐसी स्थापना करने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है कि समान्तर एवं समस्तरीय लेखन-विषयक उद्वेलन का अनुभव समस्त उत्तर भारत में किया गया था, तथा सम्भवत: कौशाम्बी एवं मथुरा, इन दोनों ही क्षेत्रों की प्रभाविता में एकरूपता थी । यह भी ध्यातव्य है कि आलोचित कालावधि में ब्राह्मी की जो शिल्प-विधि कौशाम्बी एवं मथुरा के अभिलेखों में निरूपित मिलती है उसकी आसन्न अनुरूपता मध्य प्रदेश के बन्धोगढ़ एवं दक्षिण-पश्चिम भारत की गुफाओं के अभिलेखों में भी प्राप्त होती है । ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन है कि [illegible] अवधि को लेखन कला में जो संशोधन एवं परिवर्द्धन के पुट प्राप्त होते हैं, उसमें किस केन्द्र-विशेष को अग्रणी माना जा सकता है । सम्भावना इसी बात की दिखाई देती है कि यह लेखन-शैली उन शक बौद्ध भिक्षुओं की कृति है जो गंगा के मैदान से लेकर दक्षिण भारत तक पर्यटन

किया करते थे । इसी स्थिति के परिणाम में लेखन शैली में समरूपता का पद-प्रक्षेप हुआ तथा क्षेत्रीय वैषम्य का उभाड़ नहीं हो सका था ।

क्रमानुसार आलोचित कालावधि की ब्राह्मी को अध्ययन का विषय बनाने पर उत्तर क्षत्रपीय ब्राह्मी (प्रथम शताब्दी ईसापूर्व), पूर्वकालीन कुषाण ब्राह्मी (प्रथम शताब्दी ईस्वी) एवं उत्तरकालीन कुषाण ब्राह्मी जैसे वर्ग बन सकते हैं । पूर्वकालीन कुषाण ब्राह्मी के अभिलेखों में पुरातन शैली के पुनरावर्त्तन का प्रमाण निरूपणीय है । इस मत की आदरणीयता संशयशील बन बैठती है कि उक्त आशय के प्रमापक अभिलेख केवल पूर्वी भारत से मिले हैं । अधिक सही शब्दों में यही कहा जा सकता है कि इस कोटि के अभिलेख कौशाम्बी (पूर्वी भारत) और मथुरा (पश्चिमी भारत), दोनों ही केन्द्रों से उपलब्ध हुये हैं । उल्लेखनीय पुरातन आकार हैं, (।)(ᑌ), ∆, ⅄ (मात्रा-शैली) और ⊢ । इन्हीं केन्द्रों से तत्कालीन ऐसे भी अभिलेख उपलब्ध हुये हैं, जिनमें पुरातन एवं सामयिक आकृतियाँ साथ-साथ प्रयोग में लाई गई हैं । इस आशय के द्योतक सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरणीय अभिलेख हैं, भिक्षुणी बुद्धमित्रा के दो अभिलेख (कौशाम्बी-घोषिताराम), कनिष्क की अभिलेखांकित मुहर (कौशाम्बी घोषिताराम), वर्ष 5 का जैन प्रतिमा अभिलेख (मथुरा-कंकाली टीला), कनिष्क के वर्ण 23 का बौद्ध प्रतिमा अभिलेख (मथुरा-सोंख), कनिष्क के वर्ष 10 का प्रस्तर-खण्ड अभिलेख (ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित, सम्भवत: मथुरा से प्राप्त), कनिष्क के वर्ष 8 का नाग-प्रतिमा अभिलेख (मथुरा)-राम भादर, कनिष्क के वर्ष 4

का बौद्ध प्रतिमा अभिलेख (मथुरा-कंकाली टीला) प्रयुक्त अक्षर-आकार निम्नोक्त है : [illegible] । विकसित अक्षर-आकृतियों के अध्ययनार्थ वे अभिलेख उदाहरणीय हैं, जिनमें उत्तर-कालीन कुषाण ब्राह्मी प्रयुक्त की गई है । उदाहरणीय अभिलेख है, वर्ष 93 का जैन प्रतिमा अभिलेख (मथुरा-कंकाली टीला), वासुदेव के वर्ष 98 का जैन प्रतिमा अभिलेख (मथुरा-कंकाली टीला) तिथि-रहित जैन प्रतिमा अभिलेख (मथुरा-कंकाली-टीला), कनिष्क (द्वितीय अथवा तृतीय) का बौद्ध प्रतिमा अभिलेख (मथुरा-दलपत की खिड़की), भद्रमघ के वर्ष 83 का बौद्ध प्रतिमा अभिलेख (कौशाम्बी-घोषिताराम), भद्रमघ के वर्ष 88 का प्रस्तर अभिलेख (कौशाम्बी-धरातल), शिवमघ का प्रस्तर अभिलेख (कौशाम्बी-धरातल) श्रीमघमघि के अभिलेख (कौशाम्बी-धरातल)। विकसित अक्षर-आकृतियों के निम्नोक्त निदर्शन हैं: [illegible]

सारांशत: आलोचित कालावधि की ब्राह्मी की शिल्प-विधि के सन्निधायक तीन स्तर निरूप्यमान होते हैं । प्रथम स्तर का संज्ञापन उत्तरक्षत्रपीय ब्राह्मी के द्वारा होता है जिसमें मौर्य-कालीन आकृतियों के पुन: प्रदर्शन एवं कुषाणकालीन ब्राह्मी के पुरा प्रदर्शन की प्रवृत्ति दिखाई देती है । द्वितीय स्तर का संज्ञापन उस लिपि के द्वारा होता है, जिसे पूर्वकालीन ब्राह्मी की संज्ञा प्रदान की जा सकती है, जिसके अक्षर आकार उत्तर क्षत्रपीय ब्राह्मी के आसन्न सन्निकर्ष में हैं । तृतीय स्तर का संज्ञापन उस लिपि के द्वारा होता है जिसे उत्तर कालीन कुषाण ब्राह्मी

की संज्ञा दी जा सकती है, जिसकी शिल्प-विधि का सन्निकर्ष गुप्तकालीन ब्राह्मी से है, तथा जिसकी विकसित अक्षर आकृतियों के कारण सम्बन्धित अभिलेखाक्षरों को उत्तरी वर्णमाला की पुरोगामी मानते हैं । इन तीनों स्तरों की लिपि में आलोचित कालावधि के समापन बिन्दु (लगभग 300 ईस्वी) तक क्षेत्रीय भिन्नता अथवा स्थानीय शाखा-प्रशाखा के प्रमापक साक्ष्य नहीं मिलते हैं ।